पर्यावरण और विज्ञान के संदर्भ में

जीवन क्या है?

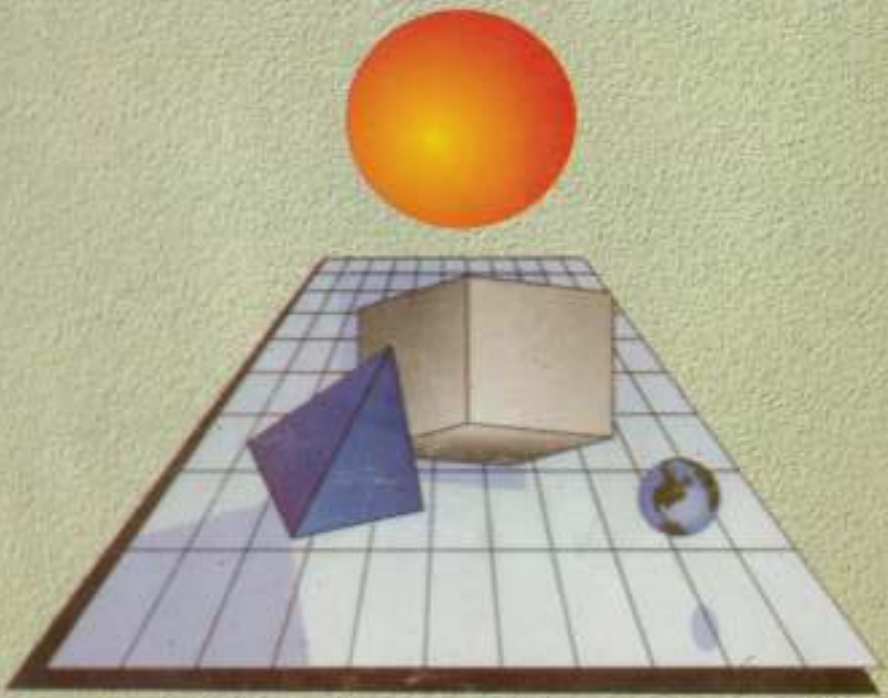

(डॉ.) अनिल कुमार जैन

जीवन क्या है?

(What is life?)

(डॉ॰) अनिल कुमार जैन

जैनदर्शन और विज्ञान के सन्दर्भ में

जीवन क्या है?

(What is life?)

(डॉ॰) अनिल कुमार जैन

विद्या प्रकाशन मंदिर

नई दिल्ली-110002

ISBN : 81-7135-034-8

© लेखक

द्वितीय संस्करण : अक्टूबर 2002

मूल्य : तीस रुपये मात्र

प्रकाशक : विद्या प्रकाशन मंदिर
1681, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

शब्द संयोजन : शेफाली लेज़र सिस्टम, दिल्ली-32

मुद्रक : बालाजी आफसेट, दिल्ली-32

प्राप्ति स्थान :

1. मैत्री समूह
   C/o एस॰ एल॰ जैन
   E-2/161 अरेरा कालोनी, भोपाल-462016
   फोन : (0755) 293654
2. (डॉ॰) अनिल कुमार जैन
   B-26 सूर्य नारायण सोसायटी, विसत पेट्रोल पम्प के सामने
   साबरमती, अहमदाबाद-380005 फोन : (079) 7507520
3. मैनेजर, जैन विद्या संस्थान
   दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र
   श्री महावीर जी-322220
   फोन (0469) 24322, 24339

शुभाशीष

जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में डॉ. अनिलजी ने जीवन के विविध पहलुओं को समझने-समझाने की पहल की है। उनका यह प्रयास सराहनीय और अनुकरणीय है।

विज्ञान के जानकार अन्य विद्वान भी इसी तरह जैनदर्शन का अध्ययन करके उसे आधुनिक भाषा में व्याख्यायित करने का सत्प्रयास करें तो आगामी पीढ़ी उपकृत होगी।

–मुनि क्षमासागर

प्राक्कथन

जैनदर्शन में छह द्रव्यों, सात तत्त्वों तथा नौ पदार्थों का विस्तृत वर्णन मिलता है, इन सब में जीव की मुख्यता है। संसार में जितने भी जीव (प्राणी) हैं उनका कल्याण कैसे हो, इस आशय को मुख्य रखकर जीव की विभिन्न अवस्थाओं को अलग-अलग प्रकार से समझाया गया है। जीव की व्याख्या करने के साथ ही जीवों की उत्पत्ति, उनका वर्गीकरण, उनके जन्म स्थान आदि विषयों पर भी समुचित प्रकाश डाला गया है। जीवन के रहस्यों को भी अनेक प्रकार से समझाया गया है।

जैसा कि आज हम सभी जानते हैं कि जीव-विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिकों ने बहुत अधिक खोजें कर ली हैं। जैनेटिकल इंजीनियरिंग, क्लोनिंग तथा जैनोम जैसी नयी खोजों ने आज आम लोगों को आश्चर्य में डाल दिया है। इन सबके बावजूद भी अभी वैज्ञानिकों के पास अनुत्तरित रहस्यों की कमी नहीं है। वे एक गुत्थी को सुलझाते हैं तो चार नयी पहेलियाँ पैदा हो जाती हैं। वैज्ञानिकों की इन खोजों का जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करना अपने आप में बहुत ही दिलचस्प बात है। इस प्रकार के अध्ययनों से जैनदर्शन को विज्ञान की भाषा में समझा जा सकता है। अध्ययन के तीन विषय है–

(1) अध्ययन के वे विषय जिन पर वैज्ञानिकों ने खोज की है तथा उनका जैनदर्शन में भी वर्णन है।

(2) वे विषय जिनकी विज्ञान ने तो खोज की है, लेकिन जैनदर्शन में उनका कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है।

(3) वे विषय जो अभी विज्ञान के क्षेत्र में तो रहस्य बने हुये हैं, लेकिन उनका जैनदर्शन में खुलासा किया गया है।

प्रस्तुत कार्य इन तीनों में समाहित हो जाता है।

क्लोनिंग, जैनेटिकल इंजीनियरिंग आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिनके बारे में प्रारम्भ में तो लगता है कि इन खोजों ने जैनदर्शन के सिद्धान्तों को गलत सिद्ध कर दिया है। लेकिन जब हम इन विषयों की बारीकी को समझ लेते हैं तब यह स्पष्ट हो पाता है कि जैनदर्शन के सिद्धान्तों में कहीं कोई कमी नहीं है। दूसरी ओर कुछ ऐसे विषय भी हैं जो अभी तक विज्ञान के लिए रहस्य बने हुये हैं। जैसे बुढ़ापा तथा मृत्यु क्यों आता है? हमारे शरीर की कोशिकायें शरीर की वृद्धि के साथ-साथ अलग-अलग क्यों होने लगती है? पृथ्वी पर जीवन का प्रारम्भ क्यों

तथा कैसे हुआ? जीवन कहाँ से आया? आखिर जीवन है क्या? आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका विज्ञान के पास कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है। यह एक दिलचस्प बात है कि इन विषयों पर जैनदर्शन में काफी प्रकाश डाला गया है तथा जहाँ आवश्यक हुआ है वहाँ कर्म-सिद्धान्त द्वारा इनकी व्याख्या की गई है। यदि जैन-वैज्ञानिक जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में इनका अध्ययन करें तो वे निश्चित तौर पर शोध के लिए कुछ दिशा निर्देश प्राप्त कर सकते हैं।

बैक्टेरिया आदि सूक्ष्म-जीवों तथा शरीर में स्थित कोशिकाओं के बारे में विज्ञान ने तो काफी अनुसंधान किया है, लेकिन जैन-दार्शनिकों ने भी इनके बारे में विशद् चर्चा की है। इन सूक्ष्म-जीवों के लक्षणों तथा जैनदर्शन में वर्णित एकेन्द्रिय जीवों के लक्षणों में अद्भुत साम्य नजर आता है। यह जानकर हैरानी होती है कि हमारे दार्शनिक बिना किसी सूक्ष्मदर्शी की सहायता के इतना सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत कर पाये। वस्तुतः इन दार्शनिकों ने अपने ज्ञान को इतना अधिक विकसित कर लिया था कि वे सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव के बारे में भी प्रत्यक्ष अनुभव कर पायें। जैनदर्शन में पुलवियों तथा उनमें स्थित जीवों के बारे में जो वर्णन किया है वह शरीर, अंग-तन्त्र, अंग-प्रत्यंग, ऊतक तथा कोशिकाओं से बहुत साम्य रखता है। जैनदर्शन में सम्मूर्च्छन जीवों की अपनी एक विशिष्ट अवधारणा है; इसे विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समझने की जरूरत है। इन सब विषयों पर अभी और अधिक चिंतन, मनन एवं अनुसंधान की आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में कहीं-कहीं विषय बहुत लम्बा हो गया है। लेकिन मैं इसे रोक नहीं सका हूं। मूलतः मैं भौतिक-विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूं। मैंने इस पुस्तक के विभिन्न विषयों पर लिखने से पहले जीव-विज्ञान पढ़ा ही नहीं था। अतः यह मेरे स्वयं के लिए बहुत आवश्यक हो गया कि पहले मैं उस विषय को समझ लूँ, तभी तो आगे मैं लिख सकता था, इसलिए उस विषय को विस्तार से लिखना मेरी मजबूरी रही है जिसे मैं अभी सीख रहा हूँ। आशा है कि इस प्रकार की कुछेक कमियों के बावजूद भी पाठकों को, यह पुस्तक पसंद आयेगी तथा जैनदर्शन को पढ़ने के लिए प्रेरित करेगी। जीव-विज्ञान के क्षेत्र में रुचि रखने वाले व्यक्तियों को भी कुछ और नया चिंतन प्रस्तुत करने की प्रेरणा देगी। साथ ही हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह एक शोध-ग्रन्थ है तथा इसे इसी रूप में लेना चाहिए। हो सकता है कि आने वाले दिनों में कुछ इस प्रकार के अनुसंधान सामने आयें जो नये निष्कर्ष प्रस्तुत करें।

एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इस पुस्तक को लिखने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रातः स्मरणीय परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज एवं उनके शिष्य पूज्य मुनि श्री क्षमासागर जी महाराज की प्रेरणा भी रही है। मैं आचार्य श्री से उनके महुवा (सूरत के निकट) तथा नेमावर (म. प्र.) में चातुर्मास

के समय जब मिला था तब उन्होंने चर्चा के दौरान मुझसे कुछ विषयों पर विचार करने को कहा था। मैंने उनके इन निर्देशों को आशीर्वाद के रूप में स्वीकार किया तथा उन विषयों पर कार्य आरम्भ किया। इस कार्य के दौरान कुछ अन्य नये विषय भी सामने आये। इसी प्रकार पूज्य मुनि श्री क्षमासागर जी से भी कई बार मिलने तथा चर्चा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनसे भी इन विषयों पर चर्चा की तथा आवश्यक निर्देश भी प्राप्त किये। आशा है कि भविष्य में भी इसी प्रकार आचार्य श्री एवं मुनिश्री के आशीर्वाद प्राप्त होते रहेंगे।

जैसा कि सभी जानते हैं कि मुनि श्री क्षमासागर जी स्वयं विज्ञान के विद्यार्थी रहे हैं तथा उन्होंने एम. टेक. किया है। अतः मेरी यह इच्छा थी कि दर्शन और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन वाली इस पुस्तक को वे देख लें तथा जहाँ कहीं कोई कमी रह गई हो इसे दूर कर दें। पूज्य मुनि श्री ने मेरा यह निवेदन स्वीकार कर लिया। उन्होंने इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ा तथा जहाँ कहीं भी सैद्धान्तिक या अन्य त्रुटियाँ थीं उन्हें सुधारने की बहुत कृपा की। अभी आज इस पुस्तक को जिस रूप में देख रहे हैं, यह उनकी ही विशेष अनुकंपा का परिणाम है। मैं सदा उनका ऋणी रहूंगा।

इस पुस्तक को लिखने में अनेक आचार्यों, मुनियों, शोधकर्ताओं एवं चिंतकों के कार्य को प्रयोग में लिया है। यथासंभव उनके संदर्भ देने का प्रयत्न भी किया है। मैं इन सबों का बहुत ऋणी हूं तथा इनका मैं आभार मानता हूं। श्री एस. एल. जैन, भोपाल का भी मैं बहुत आभारी हूँ जिन्होंने मेरा उत्साह बनाये रखा। पुस्तक प्रकाशन में "मैत्री समूह" ने जो रुचि एवं उदारता दिखाई है उसके लिए उसका बहुत आभारी हूँ।

इस प्रकार की शोध-पुस्तक लिखना श्रम-साध्य एवं टाइम-कंज्यूमिंग कार्य है। यह कार्य बिना परिवार-जनों के सहयोग के पूर्ण कर पाना कठिन है। इस कार्य को पूरा करने में धर्मपत्नी श्रीमती हेमलता जैन तथा दोनों पुत्रियों दिवा तथा निभा ने जो सहयोग प्रदान किया है उसके लिए इनका भी बहुत आभारी हूँ।

साबरमती
दि. 14.11.2001

—(डॉ.) अनिल कुमार जैन

अनुक्रम

जीवन क्या है?	11
पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ	16
जीवन रहस्य : कुछ अनुत्तरित प्रश्न तथा कर्म सिद्धान्त	24
क्या आत्मा का अस्तित्व है?	29
जैनदर्शन में सूक्ष्म-जीवों की स्थिति	32
कोशिका, वायरस तथा निगोदिया जीव	45
विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में सम्मूर्च्छन-जन्म	60
कर्म तथा उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध	75
जैनेटिकल इन्जीनियरिंग और कर्म सिद्धान्त	86
क्लोनिंग तथा कर्म-सिद्धान्त	92
जैनदर्शन में प्रलय का स्वरूप	100

जीवन क्या है?

अधिकतर लोगों को, सजीव और निर्जीव की पहचान करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। उदाहरण के तौर पर वे आसानी से यह बता सकते हैं कि मक्खी, घोड़ा और पेड़ सजीव हैं जो वृद्धि और प्रजनन जैसी कुछ क्रियाओं को करते हैं। इस प्रकार जीव (सजीव) तथा निर्जीव (अजीव) की पहचान तो की जा सकती है, लेकिन जीवन (life) क्या है इसका सीधा उत्तर दे पाना कठिन है। जैव-वैज्ञानिकों के पास जीव से सम्बन्धित विशद् ज्ञान है, फिर भी वे जीवन को परिभाषित करने में कठिनाई महसूस करते हैं।

जैनदर्शन में भी जीव सम्बन्धी विशद् विवेचन मिलता है तथा जीवन को परिभाषित करने का भी समीचीन प्रयास हुआ है। हम इस आलेख में विज्ञान तथा जैनदर्शन में वर्णित जीव के लक्षणों की तुलना करेंगे तथा जैनदर्शन में वर्णित जीवन के सम्बन्ध में भी चर्चा करेंगे।

जीव के लक्षण : वैज्ञानिक दृष्टि

पृथ्वी पर अनेकों प्रकार के जीव पाये जाते हैं। अब तक बीस लाख से अधिक प्रजातियों को खोजा जा चुका है। वे सूक्ष्म बैक्टेरिया से लेकर विशालकाय व्हेल मछली तक के अनेक आकार में पायी जाती हैं। ये जीव विभिन्न प्रकार के वातावरण में पाये जा सकते हैं इनमें से कुछ गर्मी से तपते रेगिस्तानों में भी मिल सकते हैं तथा कुछ अन्य वर्फीले ध्रुवों पर भी। जीवों के खानपान तथा रहन-सहन में भी विविधता पायी जाती है। इसके बावजूद भी सभी जीवों में कुछ समानताएं होती हैं तथा वे ही जीव के लक्षण भी निर्धारित करती हैं। प्रत्येक जीव में एक प्रकार का रसायन पाया जाता है जो कि एक ही प्रकार की रासायनिक क्रिया भी करता है। ये रसायन एक यूनिट (Unit) में व्यवस्थित तरीके से रहते हैं जिसे कोशिका कहते हैं।

सभी जीवों में जो समान लक्षण पाये जाते हैं वे हैं—(1) प्रजनन (reproduction), (2) वृद्धि (growth), (3) चयापचय (metabolism), (4) हलन-चलन (movement), (5) संवेदन (responsiveness), तथा (6) अनुकूलन (adaptation)। लेकिन कुछ जीव ऐसे भी हैं जिनमें ये सब पूर्णतः नहीं पाये जाते जबकि कुछ निर्जीवों में भी इनमें से कुछ गुण देखने को

मिल जाते हैं। फिर भी ये गुण/लक्षण जीव की मूल प्रकृति को रेखांकित अवश्य करते हैं।

(1) **प्रजनन**—यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे जीव अपनी ही जैसी प्रजाति पैदा करता है। यह दो प्रकार से होता है—योनिज (लैंगिक) तथा अयोनिज (अलैंगिक)। अयोनिज प्रजननः पूर्व में स्थित जीव के विकसित होने से ही हो जाता हैं। योनिज प्रजनन दो सैक्स कोशिकाओं के द्वारा होता है। जब नर का शुक्राणु तथा मादा का अण्डाणु आपस में मिलते हैं तो एक नयी कोशिका का निर्माण होता है, इससे जीव जन्म लेता है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि इस प्रक्रिया द्वारा प्रजनन करते हैं।

(2) **वृद्धि**—जीव के अपने आकार का क्रमिक विकास होना वृद्धि कहलाता है। वृक्ष कुछ सरल अणुओं, पानी तथा कार्बन-डाई-आक्साइड से अपना भोजन बनाते हैं। तथा उनसे वृद्धि के लिए आवश्यक जटिल रसायन का निर्माण करते हैं। जबकि पशु-पक्षी अपने भोजन को ही टिश्यू की वृद्धि के लिए आवश्यक बना लेते हैं। वृद्धि निर्जीव में भी देखी जाती है, लेकिन सजीव और निर्जीव दोनों की वृद्धि में अन्तर है। निर्जीव की वृद्धि उसके फलक पर एक नई पर्त जम जाने के कारण होती है जैसा कि क्रिस्टल आदि बनने में होता है।

(3) **चयापचय**—इस प्रक्रिया के दौरान जीव कुछ ऐसी रासायनिक प्रक्रिया करते हैं जिससे उन तत्त्वों का निर्माण होता है जो नयी कोशिकायें बनाने के लिए आवश्यक है। पुरानी कोशिकायें नष्ट हो जाती हैं तथा नयी कोशिकायें पैदा हो जाती हैं। इस प्रकार नयी कोशिकायें पुरानी कोशिकाओं को प्रतिस्थापित कर देती हैं।

(4) **हलन-चलन**—अधिकतर जीव हलन-चलन करते हैं। पौधों में भी आन्तरिक हलन-चलन होता है। वे प्रकाश की ओर झुक जाते हैं।

(5) **संवेदन**—जीव अपने चारों ओर स्थित वस्तुओं की मौजूदगी को महसूस करते हैं तथा उससे प्रभावित भी होते हैं। किसी अन्य की मौजूदगी से जीव के व्यवहार में परिवर्तन भी आ जाता है जिसे संवेदन या स्टिमुलस (stimulus) कहते हैं। अलग-अलग जीव को अलग-अलग वस्तु की मौजूदगी प्रभावित करती है। जैसे किसी अन्य की मौजूदगी में कछुआ अपने को कठोर कवच में छिपा लेता है। पौधे प्रकाश की उपस्थिति में उस ओर ही बढ़ने लगते हैं आदि।

(6) **अनुकूलन**—जीवों में यह वह गुण है जिस कारण जीव अपने को मौजूद वातावरण में ढाल लेते हैं तथा स्वयं को उस वातावरण में जीने के योग्य बना लेते हैं। वस्तुतः अनुकूलन में जीव में स्थित जीन में ही परिवर्तन हो जाते हैं जो कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनमें चलते रहते हैं। आज जो प्रजातियाँ उपलब्ध हैं वे जीव के इस गुण के कारण ही हैं।

जैनदर्शन में जीव के लक्षण

जैनदर्शन में संसारी जीव के लक्षणों को संज्ञा, पर्याप्ति एवं प्राण के आधार पर समझाया गया है। पहले हम यहाँ इनकी संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

संज्ञा—क्षुद्र प्राणी से लेकर मनुष्य व देव सभी संसारी जीवों में आहार, भय, मैथुन व परिग्रह इन चार के प्रति जो इच्छा पायी जाती है उसे संज्ञा कहते हैं। विशिष्ट अन्न आदि में संज्ञा अर्थात् इच्छा का होना आहार-संज्ञा है। अत्यन्त भय से उत्पन्न जो भाग कर छिप जाने आदि की इच्छा होती है उसे भय-संज्ञा कहते हैं। कामसेवन रूप क्रिया की इच्छा को मैथुन-संज्ञा कहते हैं। धन-धान्यादि के अर्जन संग्रह व संरक्षण रूप जो इच्छा है उसे परिग्रह-संज्ञा कहते हैं।

पर्याप्ति—इन्द्रिय आदि रूप शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। ये छह प्रकार की होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन। योनि (उत्पत्ति स्थान) में प्रवेश करते ही जीव वहाँ अपने शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण या आहार करता है। तत्पश्चात् उसके द्वारा क्रम से शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा व मन का निर्माण करता है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर इस कार्य में बहुत समय लगता होगा ऐसा प्रतीत होता है, लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उपरोक्त छहों कार्य की शक्ति की पूर्णता वह जीव एक अन्तर्मुहूर्त में पूरी कर लेता है। एक इन्द्रिय जीव की प्रथम चार (आहार, शरीर, इन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास), दो इन्द्रियजीवों से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय जीवों तक के इन चार के साथ भाषा-पर्याप्ति इस तरह पांच पर्याप्तियां तथा सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के छहों पर्याप्ति होती हैं। पर्याप्ति का प्रारम्भ एक साथ होता है, लेकिन इनकी पूर्णता क्रम में होती है।

प्राण—जीव जिससे जीता है वह प्राण कहलाते हैं। यह दो प्रकार का है—निश्चय और व्यवहार। जीव की चेतनत्व शक्ति उसका निश्चय प्राण है और पांच-इन्द्रिय, मन, वचन और काय ये तीन बल, आयु व श्वासोच्छ्वास ये दस व्यवहार-प्राण हैं। एकेन्द्रिय (स्थावर) जीवों के स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये चार प्राण होते हैं। द्वि इन्द्रिय जीवों के इन चार के साथ रसना इन्द्रिय एवं भाषा के साथ छह प्राण होते हैं। तीन इन्द्रिय जीवों के एक और घ्राणेन्द्रिय मिलाने पर सात, चार इन्द्रिय जीवों के चक्षु इन्द्रिय सहित आठ, असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के एक और कर्ण इन्द्रिय मिलाने पर नौ तथा सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के सभी दसों प्राण होते हैं।

पर्याप्ति तथा प्राण में कुछ अन्तर होता है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनरूप शक्तियों की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। इस प्रकार इन्द्रिय

आदि शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं और जीवन के जो कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं। इसलिए पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य रूप है।

कुछ दिलचस्प बिन्दु

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विज्ञान में जीव के जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है इनका वर्णन जैनदर्शन में भी किया गया है। मात्र नाम का अन्तर है। जीव विज्ञान के अनुसार प्रत्येक जीव में प्रजनन, वृद्धि, चयापचय, हलन-चलन, संवेदन तथा अनुकूलन गुण पाये जाते हैं, जबकि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव में चार संज्ञायें होती हैं तथा वह अपनी वृद्धि पर्याप्ति के अनुसार करता है। इन संज्ञाओं के समानान्तर वैज्ञानिक नाम निम्न प्रकार दिए जा सकते है–

जैनदर्शन	विज्ञान
आहार-संज्ञा	चयापचय
भय-संज्ञा	संवेदन, हलन-चलन
मैथुन-संज्ञा	प्रजनन
परिग्रह-संज्ञा	वृद्धि

इनके अतिरिक्त विज्ञान की भाषा में जिसे अनुकूलन कहा गया है उसे भी जैनदर्शन में स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन के अनुसार काल चक्र निरन्तर चलता रहता है। काल में परिवर्तन के साथ-साथ जीव की लम्बाई (अवगाहना), पृष्ठास्थियों की संख्या तथा आयु में भी परिवर्तन हो जाता है। पंचम-काल के प्रारम्भ में मनुष्य की औसत अवगाहना सात हाथ तथा शरीर के पृष्ठ भाग में हड्डियों की संख्या 24 थी जो कि इस काल के अन्त में घटकर क्रमशः साढ़े-तीन हाथ तथा 12 रह जायेगी। इस प्रकार जीव के अनुकूलन गुण को जैनदर्शन में उस परिवर्तन के रूप में स्वीकार किया गया है जो कालक्रम के अनुसार होता रहता है।

इस प्रकार विज्ञान में जीव के जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है उनका वर्णन कुछ दूसरे नामों के साथ जैनदर्शन में भी किया गया है।

जीवन क्या है?

अभी तक जीव के लक्षणों की तो चर्चा की, लेकिन जीवन के बारे में विशेष चर्चा नहीं हुई है। वस्तुतः विज्ञान अभी तक जीवन को पारिभाषित नहीं कर पाया है, जब कि जैनदर्शन में इसकी विशुद्ध चर्चा मिलती है। जैनदर्शन के अनुसार

"जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है उन्हें प्राण करते हैं।" अतः जीवन तथा प्राण कथंचित् एक ही हैं। जीव जिनसे जीता है वह प्राण कहलाते हैं; अतः जीव जिनसे जीता है वही जीवन (life) है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि चेतना ही प्राण है। यह चेतना अर्थात् जानने-देखने और अनुभव करने की सामर्थ्य प्रत्येक जीव में पाई जाती है यही जीवन (life) है। संसार-अवस्था में जो पांच इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण) तीन बल (मन, वचन, काय) आयु और श्वांसोच्छ्वास यथायोग्य प्राप्त होते हैं उनका संयोग-वियोग होता रहता है। इन प्राणों के संयोग को जन्म और वियोग को मरण कहते हैं। जन्म-मरण के इस चक्र में चेतना सदा बनी रहती है यही जीवन है।

❐

पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ

1 प्रस्तावना

पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व कब और कैसे आया? पृथ्वी पर जीवन का विकास किस प्रकार हुआ? आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन्होंने विभिन्न दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। इन प्रश्नों पर जैन दार्शनिकों एवं विचारकों ने भी अपने स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत किये हैं। पहली नजर में आधुनिक-वैज्ञानिक-मान्यता जैनदर्शन से बिल्कुल भिन्न ही नहीं बल्कि विपरीत प्रतीत होती हैं। लेकिन जब हम इन दोनों मान्यताओं पर गहराई से विचार करते हैं तो पाते हैं कि दोनों मान्यतायें बहुत भिन्न नहीं हैं। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि कुछ क्षण के लिए हम कुछ विवादास्पद भौगोलिक एवं खगोल वैज्ञानिक बिन्दुओं, जैसे-पृथ्वी अनादि है या सादि, पृथ्वी गोल है या चपटी, पृथ्वी स्थिर है या गतिशील आदि, को अलग रख दें। ये बिल्कुल भिन्न विषय है जिन पर अलग से चर्चा की जा सकती है।

पृथ्वी पर जीवन के प्रारम्भ एवं उसके क्रमिक विकास के सम्बन्ध में किसी निर्णय पर पहुँचने से पहले हमें वैज्ञानिक एवं जैन दार्शनिक मान्यताओं को समझना होगा।

2 पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ एवं विकास : वैज्ञानिक मान्यता

2.1 ओपेरिन परिकल्पना

पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं; उनमें स्वयं प्रजननवाद (spontaneous generation), उल्का पाषाणवाद, सृजनवाद आदि प्रमुख हैं। लेकिन सबसे अधिक मान्यता रूस के जैव रसायन वैज्ञानिक ओपेरिन द्वारा प्रतिपादित परिकल्पना को मिली। इसके अनुसार पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति तीन चरणों में हुई है—(1) भौतिक उद्विकास, (2) रासायनिक उद्विकास, तथा (3) जैविक उद्विकास। लगभग पांच अरब वर्ष पहले पृथ्वी एक जलता हुआ आग का गोला था। इसके वातावरण में जो कुछ भी उपलब्ध था वह मात्र तत्त्वों (elements) के रूप में ही था। पृथ्वी के पर्याप्त शीतल हो जाने पर

कुछ योगिकों का निर्माण हुआ जिनमें कुछ सरल प्रोटीन भी थे जो जल में धुल सकते थे। फिर क्रमशः रासायनिक क्रियाओं द्वारा जटिल प्रोटीनों का निर्माण हुआ जो कि कार्बोहाइड्रेट युक्त थे। इन जटिल कार्बोहाइड्रेट्स को उन जीवों के समतुल्य माना जा सकता है जो कुछ वायरसों में पाये जाते हैं। ये कार्बोहाईड्रेट स्व-जनन कर सकते थे। इनमें विकृति (mutation) द्वारा फिर कुछ परिवर्तन हुआ और मुक्त गुणसूत्रों (cromosomes) का निर्माण हुआ जो कि कुछ बैक्टेरिया में भी पाये जाते हैं। गुणसूत्रों के साथ ही जटिल संरचना द्वारा प्राथमिक कोशिका केन्द्रक का निर्माण हुआ। इन प्राथमिक कोशिकाओं में ही सर्वप्रथम जीव के लक्षण विद्यमान हुये। इस सब प्रक्रिया में लगभग एक अरब वर्ष का समय लगा। इस प्रकार पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व लगभग चार अरब वर्ष पूर्व आया।

ओपेरिन की इस परिकल्पना को सिद्ध करने के कई प्रयास हुये हैं। स्टैनले मिलर और यूरी ने तथा कैल्विन और फाक्स ने अलग-अलग प्रयोगों द्वारा ओपेरिन के रासायनिक उद्विकास के सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। वे अपने प्रयोगों में उच्च ताप एवं उच्च विभव (voltage) पर कोशिका के संरचनात्मक घटकों का निर्माण प्रयोगशाला में कर सके। इससे ओपेरिन की मान्यता को बल मिला। डॉ. हरगोबिन्द खुराना ने प्रयोगशाला में डी. एन. ए. के एक हिस्से का निर्माण कर दिखाया जिसमें 77 न्यूक्लीयोटाइड्स थे। इस प्रकार डी. एन. ए. को भी प्रयोगशाला में बना पाना संभव हुआ। इन प्रयोगों से प्रयोगशाला में जीवन की उत्पत्ति की संभावना को भी बल मिला।

2.2 जैविक उद्विकास

जीवन के सर्वप्रथम अस्तित्व में आने के बाद पृथ्वी पर वातावरण में निरन्तर परिवर्तन के साथ-साथ प्राथमिक श्रेणी के जीवों में भी परिवर्तन होते गये एवं उनसे समस्त सृष्टि का निर्माण हुआ। पृथ्वी पर वर्तमान एवं भूतकाल में बसने वाले सभी सजीव अपने पूर्ववर्ती सजीवों के उद्विकास की क्रिया द्वारा अस्तित्व में आए। सजीव के उद्विकास का अर्थ है—सादे एवं सरल सजीवों से व्यवस्थित, प्रगतिकारक परन्तु धीमी गति से जटिल सजीवों की उत्पत्ति। दूसरे शब्दों में उद्विकास धीमें एवं प्रगतिकारक परिवर्तनों की एक अटूट श्रृंखला हैं जिसके कारण सजीवों के व्यक्तिगत लक्षण पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलते रहते हैं और जिनके परिणाम स्वरूप नयी जाति के सजीव अस्तित्व में आते हैं। उद्विकास की घटना को सिद्ध करने वाले प्रमाणों को 'उद्विकास के प्रमाण' (evidence of evolution) कहते हैं।

2.3 जीनविद्या के प्रायोगिक प्रमाण

जीनविद्या (genetics) के कुछ प्रयोगों से उद्विकास को प्रयोगशाला में

दिखना संभव हुआ है। ऐसे प्रायोगिक प्रमाण प्राणी एवं वनस्पति संवर्धन के क्षेत्र में प्राप्त हुए हैं।

सजीवों की दो जातियों या उपजातियों के बीच संकरण करवाने से एक ऐसे सजीव का सृजन होता है जिसके समान सजीव पहले नहीं था। उदाहरण के लिए घोड़े एवं गधे के बीच संकरण से खच्चर जैसा नया प्राणी बना। इसी प्रकार भेड़ और बकरी के बीच संकरण से भकरी बनी। पसंदगी द्वारा इच्छित विविधता भी लाई जा सकती है। बुलडाग, अल्सेशियन आदि कुत्ते इसी तरह के कृत्रिम उद्‌विकास के अच्छे उदाहरण हैं। वर्तमान में प्राप्त रंग-बिरंगे गुलाबों की विविध प्रजातियाँ भी कृत्रिम संवर्धन का ही उदाहरण हैं। इस प्रकार संकरण एवं पसंदगी द्वारा प्राणियों एवं वनस्पतियों में नवीनता एवं विभिन्नता लायी जा सकती है।

2.4 प्राकृतिक वरण द्वारा उद्‌विकास

प्राकृतिक वरण (Natural selection) के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रसिद्ध वैज्ञानिक डार्विन ने किया था। उसके अनुसार एक ही जाति के सजीवों में विविधता वातावरण की भिन्नता एवं परिस्थितियों के कारण हुयी है। लगातार परिवर्तनशील वातावरण को जो वनस्पति एवं प्राणी जीत सके, वे ही इसमें जीवित रह सके हैं एवं अन्य का नाश हो गया। इस सिद्धान्त के चार तथ्य हैं (1) विभिन्नता (variation), (2) विपुल संतति (Prodigality of production), (3) जीवन-संघर्ष (Struggle for Existence), तथा (4) योग्यतम की चिरंजीविता (Survival of the fittest)।

एक कोड़फिश एक करोड़ अण्डे देती हैं। यदि सभी जीवित रह सकते तो पूरा समुद्र इन्हीं से लबालब भरा होता। इसी प्रकार एक हाथी युगम से 750 वर्षों में 19 लाख संतति हो सकती हैं। लेकिन इनमें से कुछ ही जीवित रह पाते हैं। इसी प्रकार जातियाँ-प्रजातियाँ तो अनेक हो सकती हैं, लेकिन उनमें से कुछ ही वातावरण में जीवित या चिरंजीवी रह सकी हैं, रह सकती हैं।

2.5 विकृतिवाद

डार्विन के सिद्धान्त में कुछ कमियाँ थीं। इन कमियों को विकृतिवाद (Mutation) के सिद्धान्त ने दूर कर दिया। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सन् 1901 में डच वैज्ञानिक ह्यूगो डिराइस ने किया था। इसके अनुसार सजीवों में आनुवंशिक (heredity) परिवर्तन होते हैं जो कि आकस्मिक एवं स्वयं होते हैं। इन परिवर्तनों को विकृति (Mutation) कहते हैं। उसने अपनी खोजों में पाया कि इवनिंग प्रिमरोज में पराग वाहिनी छोटी थीं। कुछ आनुवंशिक परिवर्तन अनुकूल

होते हैं जो सजीवों को नये वातावरण में जीवित रहने के योग्य बना देते हैं तथा शेष परिवर्तन प्रतिकूल होते हैं जो सजीव को लम्बे समय तक जीवित नहीं रख पाते हैं तथा उन्हें नष्ट कर देते हैं। अनुकूल परिवर्तन नयी प्रजाति को जन्म देते हैं। लेकिन ये परिवर्तन धीमी गति से विभिन्न चरणों में होते हैं; इस कारण उन्हें हम महसूस नहीं कर पाते हैं।

2.6 आधुनिक मान्यता

जीवन के उद्विकास की आधुनिक मान्यता विकृतिवाद एवं प्राकृतिकवरण के सिद्धान्त का मिला-जुला रूप है। जहाँ विकृतिवाद नयी जाति एवं प्रजातियों की उत्पत्ति के कारणों की जानकारी देता है वहीं प्राकृतिकवरण सिद्धान्त यह बताता है कि विभिन्न सजीव (जातियां एवं प्रजातियाँ) किस प्रकार जीवन-संघर्ष में चिरंजीवी बने रहते हैं।

इस प्रकार रासायनिक उद्विकास के कारण पृथ्वी पर जीवन का प्रारम्भ हुआ तथा इसके पश्चात् विभिन्न वातावरण में छोटे जीवों के क्रमिक विकास के कारण बड़े जीवों का निर्माण हुआ तथा विभिन्न जीव-जन्तु तथा पेड़-पौधे अस्तित्व में आये।

3 जैनदर्शन की मान्यता

जैनदर्शन की मान्यतानुसार पृथ्वी अनादि और अनन्त है। इस पर जितने भी प्राणी पाये जाते हैं, वे भी अनादि काल से इस पर रह रहे हैं। इतना ही नहीं, प्रलय के समय भी सभी जीव-जन्तुओं का अस्तित्व बना रहता है कुछ प्रजातियां स्थान विशेष या काल विशेष में उत्पन्न नहीं होती अथवा उनकी संख्या अवश्य कम हो जाती है। इस प्रकार पृथ्वी की उत्पत्ति, पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ एवं इस पर जीवन का क्रमिक विकास आदि से सम्बन्धित वैज्ञानिक मान्यताओं को जैनदर्शन के संदर्भ में व्याख्यायित करना अनिवार्य प्रतीत होता है। जैनदर्शन में वर्णित जीव के योनि या उत्पत्ति स्थान, छह काल की व्यवस्था आदि पर विचार करें तो वैज्ञानिक मान्यताओं और जैनदर्शन से साम्य दिखाई देता है। पहले हम जैनदर्शन में वर्णित जन्म के भेद-प्रभेद योनियां, एवं काल-व्यवस्था पर चर्चा करेंगे।

3.1 जन्म के भेद

जैनदर्शन के अनुसार जीव का जन्म तीन तरह से होता है—गर्भ-जन्म, सम्मूर्च्छन-जन्म, और उपपाद जन्म। गर्भ-जन्म स्त्री-पुरुष के संयोग से होता है, यह सभी जानते हैं। जो स्वयंमेव वातावरण में सब ओर से शरीर के योग्य

पुदगल-परमाणुओं को ग्रहण करके जीवों का जन्म होता है वह सम्मूर्छन-जन्म है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी तिर्यंचों का और किन्हीं-किन्हीं संज्ञी पञ्चेद्रिन्य तिर्यंचों व मनुष्यों का भी सम्मूर्छन जन्म होता है। इस प्रकार के जन्म में पुद्गल परमाणुओं का अनुकूल संयोग योनि का कार्य करता है तथा इसमें नर व मादा के संयोग के बिना जीव का जन्म होता है। यह जैनदर्शन में वर्णित दिलचस्प जन्म है। उपपाद जन्म मात्र देव व नारकी जीवों का होता है।

3.2 योनियाँ

जिसमें जीव जाकर उत्पन्न होता है उसे योनि कहते हैं। सचित्त (जीव सहित), अचित्त (जीव रहित), सचित्ताचित्त (मिली-जुली), शीत (ठण्डी), उष्ण (गर्म), शीतोष्ण (सर्द-गर्म), संवृत (ढकी हुई), विवृत (खुली हुई), संवृत-विवृत (कुछ ढ़की, कुछ खुली हुई) आदि के भेद से योनि अनेक प्रकार की हैं। एकेन्द्रिय, द्वि-इन्द्रिय आदि जाति के भेद से योनि के चौरासी लाख भेद हैं। इन योनियों से उपजे जीवों को पुनः जाति भेद करके भी बताया गया है। जाति भेद को कुल कहते हैं। इनकी संख्या 199½ लाख कुल कोटि बताई गई है। जिन पुद्गलों से शरीर बनता है उनके भेद रूप 'कुल' कहलाते हैं।

यहाँ योनियों के शीत, उष्ण, विवृत, संवृत आदि भेदों से एक बात यह स्पष्ट है कि जीवों की उत्पत्ति कुछ निश्चित स्थानों पर होती है जहाँ जन्म के लिए अनुकूल ताप तथा दाब हो। कुल कोटि से यह स्पष्ट है कि एक ही योनि में शरीर निर्माण अलग-अलग पुद्गलों के संयोग से हो सकता है, इसी कारण कुल-कोटि के भेद बताये गये हैं। एक बात यह और स्पष्ट कर लेनी चाहिए कि इस प्रकार एक ही योनि से अनेक प्रकार के जीव (प्रजातियाँ) पैदा हो सकती हैं।

3.3 काल-व्यवस्था

जैनदर्शन में काल को छह भागों में बांटा गया है—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा, दुषमा-दुषमा। पहले काल से लेकर छठे काल तक अवसर्पिणी काल कहलाता है। इसके पूरा होने के बाद फिर यह काल उल्टा चलता है। यानि कि दुषमा-दुषमा से प्रारम्भ होकर सुषमा-सुषमा तक। इसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। यह काल-क्रम निरन्तर चलता रहता है।

जैनर्दशन के अनुसार छह कालों में जीवों की आयु, अवगाहना आदि में वृद्धि व ह्रास होता रहता है। अलग-अलग काल में मनुष्य की अवगाहना तथा शरीर के पृष्ठ भाग में हड्डियों की संख्या किस प्रकार बदलती है, इसे नीचे तालिका में दिखाया गया है।

काल	अवगाहना 1 धनुष = 4 हाथ/6 फीट 1 हाथ = 1.5 फीट	शरीर के पृष्ठ में हड्डियों की संख्या
सुषमा-सुषमा	6000-4000 धनुष	256
सुषमा	4000-2000 धनुष	128
सुषमा-दुषमा	2000-500 धनुष	64
दुषमा-सुषमा	500 धनुष-7 हाथ	48-24
दुषमा	7 हाथ- 3.5 हाथ	24-12
दुषमा-दुषमा	3.5-हाथ - 1 हाथ	12

इसी प्रकार का परिवर्तन अन्य पशु-पक्षियों में भी होता हे। यदि हमको दुषमा-सुषमा काल के किसी अमुक जीव का कंकाल मिल जाय तो आज वह जीव वर्तमान में मौजूद होने के बावजूद भी वर्तमान से भिन्न-प्रजाति का नजर आयेगा। जबकि ये दोनों हैं एक ही जीव, मात्र अवगाहना, हड्डियों की संख्या आदि में ही अन्तर होगा।

4 तुलनात्मक विवेचन एवं निष्कर्ष

वैज्ञानिक मान्यतानुसार पृथ्वी के पर्याप्त शीतल हो जाने पर लगभग चार करोड़ वर्ष पूर्व अनुकूल वातावरण में जटिल प्रोटीन एवं उनसे क्रमशः कार्बोडाइड्रेट और गुणसूत्र बने। इनसे कोशिका केन्द्रक का निर्माण हुआ जिनमें जीव के लक्षण विद्यमान हुए। जैन-दर्शनानुसार भी यदि अनुकूल वातावरण मिले तो शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करके अनेक प्रकार के सम्मूर्च्छन जीवों का स्वतः जन्म होता है। अनुकूल वातावरण न मिलने पर सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। जैनदर्शन में वर्णित छह कालों में से सुषमा-सुषमा, सुषमा और सुषमा-दुषमा –इन तीन कालों में शंख, बिच्छू, चींटी, मक्खी आदि विकलत्रय जीवों की उत्पत्ति के योग्य वातावरण न होने से इन जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। इन कालों में जो गाय, सिंह, मकर, शूकर, हरिण, भैंस, बन्दर, व्याघ्र, शृगाल, रीछ, मुर्गा, तोता, कबूतर, राजहंस आदि तिर्यञ्च युगल उत्पन्न होते हैं वे भी वातावरण के अनुरूप वैरभाव से रहित, क्रूरता से रहित और मांस आदि का भक्षण नहीं करते। सभी तिर्यञ्च मांसाहार के बिना घास के तृणों का सेवन करते हैं। इससे दो बात स्पष्ट होती हैं कि पृथ्वी पर एक ऐसा काल भी रहा या रहता है जिसमें क्षुद्र जीवों की उत्पत्ति नहीं होती तथा अन्य जीव भी वातावरण के अनुरूप जीवन के संरक्षण के लिए आहार सामग्री का उपयोग करते हैं। इतना अवश्य ध्यान रखना है कि जीव तत्त्व (आत्मा) की उत्पत्ति सम्भव नहीं है यह तो शाश्वत है लेकिन जीवन के

विभिन्न रूपों की उत्पत्ति सम्भव है। कुछ वैज्ञानिक मानते भी हैं कि जीव की उत्पत्ति पृथ्वी पर नहीं हुई बल्कि जीवन या जीवन के अनेक रूपों की उत्पत्ति यहाँ हुई तथा जीव तत्त्व किसी अन्य दूरस्थ ग्रह अथवा तारे से आया है।

अब प्रश्न यह है कि प्रारम्भिक एक ही जीव या प्राणी से अनेक प्रकार के प्राणी एवं प्रजातियाँ कैसे बनी? इसको भी जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। इसमें दो बातें हैं। पहली तो यह कि परिवर्तनशील वातावरण में अलग-अलग ताप, दाब तथा पुद्गल वर्गणाओं की मौजूदगी में हमेशा अलग प्रकार की योनि का निर्माण होता रहा। जब कभी जीव के जन्म के योग्य नयी योनि का निर्माण हुआ, वहीं नयी प्रजाति के जीव ने जन्म ले लिया। इस प्रकार पृथ्वी पर विद्यमान अनेक स्थानों के परिवर्तनशील वातावरण में नयी-नयी योनियों का निर्माण होता रहा और उनमें अनेक नयी-नयी प्रजाति के जीव पैदा होते रहे। योनियों की चर्चा में हम जान चुके हैं कि योनियाँ शीत, उष्ण, संवृत, विवृत और उनसे मिश्रित विभिन्न अनेक रूप में हो सकती हैं।

दूसरी बात यह है कि क्षुद्र प्राणियों के शरीर के संघटन (fussion) से एक नये रासायनिक तत्त्व का निर्माण होता है जो कि एक नयी योनि का निर्माण करता है। इस नयी योनि में जीव के शरीर निर्माण में जिन पौद्गलिक रासायनिक तत्त्वों की आवश्यकता होती है वह उस नये रासायनिक तत्त्व से मिल जाती है। इस प्रक्रिया में पूर्ववर्ती प्राणी मर जाते हैं तथा इनके शरीर मिलकर एक नयी योनि का निर्माण करते हैं जिसमें नयी प्रजाति का जीव जन्म ले सकता है। इस बात को एक उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है।

मनुष्य के शुक्राणु (डिम्ब) एक कोशिय प्राणी होते हैं। जब पुरुष का शुक्राणु तथा स्त्री का डिम्ब (अण्डाणु) स्त्री के उदर (गर्भाशय) में मिलते हैं तब वहां इन दोनों का संघटन/फ्यूजन (fussion) हो जाता है। इस फ्यूजन में शुक्राणु तथा अण्डाणु स्वयं अपना अस्तित्व समाप्त कर लेते हैं तथा एक नयी कोशिका का निर्माण करते हैं। इस नयी कोशिका से ही मनुष्य का भ्रूण तैयार होता है तथा वह क्रमशः विकास करता हुआ स्त्री के गर्भ में जन्म लेता है। स्त्री के उदर में अनुकूल ताप तथा दाब में स्थित नयी कोशिका ही वस्तुतः मनुष्य का योनि स्थान है। स्त्री के उदर में जिस योनि का निर्माण होता है, वह मनुष्य के पैदा होने योग्य ही होती है। यहाँ से स्पष्ट है कि दो एक कोशिय प्राणी (शुक्राणु तथा अण्डाणु) के फ्यूजन से एक नयी कोशिका का निर्माण होता है जिसमें एक बहुकोशिय प्राणी मनुष्य का जन्म होता है।

कहने का तात्पर्य है कि कभी परिवर्तनशील वातावरण में दो अलग-अलग एक कोशिय प्राणियों का आपस में फ्यूजन हुआ हो तथा एक ऐसी नयी कोशिका का निर्माण हुआ हो जिसमें एक बहु-कोशिय (द्वि-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय आदि) जीव

की योनि का निर्माण हुआ हो और उससे नये जीव पैदा हुये हों, यह सम्भव है तथा ऐसा मानने पर जैन सिद्धान्तों से कोई विरोध नहीं आता है।

इस प्रकार एक कोशिय प्राथमिक जीव से अनेक जीव-जन्तुओं (प्रजातियों) के निर्माण से हमें इतना ही समझ लेना चाहिए कि कुछ प्राथमिक जीव (एक कोशिय) आपस में संयोग करके (फ्यूशन करके) अपना अस्तित्व तो समाप्त करते रहे तथा नये वातरवरण में नयी योनि बनाते रहे जिनमें नयी प्रजाति के जीवों का जन्म होता रहा। वस्तुतः एक इन्द्रिय जीव से दो इन्द्रिय, दो से तीन इन्द्रिय आदि पैदा नहीं हुये बल्कि कुछ एकेन्द्रिय जीव अपना अस्तित्व समाप्त करके नये वातावरण में दो-इन्द्रिय आदि जीवों के जन्म लेने योग्य नयी योनि का निर्माण करते रहे।

जीवों के क्रमिक विकास की आधुनिक मान्यतानुसार सजीवों में आनुवंशिक परिवर्तन होते रहते हैं जो कि स्वयंभू एवं आकस्मिक होते हैं। जैन-दर्शन भी इस सिद्धान्त की पुष्टी करता प्रतीत होता है। काल क्रमानुसार जीवों की अवगाहना एवं पृष्ठास्थियों की संख्या में परिवर्तन होते रहते हैं। जैसा कि ऊपर सारणी में दर्शाया गया है।

डार्विन ने जहाँ प्राकृतिकवरणवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया वहीं जैनदर्शन में योनियों की संख्या निश्चित कर दी। प्राकृतिकवरणवाद के सिद्धान्तानुसार वे ही जीव जीवित रह सके जिनमें इन नये परिवेश एवं वातावरण में जीने की योग्यता थी। जैन-दर्शन के अनुसार उतनी ही प्रजातियाँ पैदा हो सकती हैं जितनी योनियाँ तथा कुल-कोटि हैं और काल उनके अनुकूल है इनसे हटकर किसी अन्य नयी प्रजाति का जन्म संभव नहीं है। योनियों की संख्या 84 लाख है तथा इन योनियों से 199½ लाख कोटि प्रजाति पैदा हो सकती हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विज्ञान में वर्णित पृथ्वी पर जीवन के प्रारम्भ एवं उसके क्रमिक विकास की अवधारणा के अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्त जैन-दर्शन सम्मत हैं। जैन-दर्शन के सिद्धान्तों को व्यवस्थित तरीके से समझने मात्र की आवश्यकता है।

❑

जीवन रहस्य : कुछ अनुत्तरित प्रश्न तथा कर्म सिद्धान्त

विज्ञान ने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर बहुत खोज की है। जीवन के अनेक रहस्यों पर से पर्दा हटाया है। लेकिन अभी यह नहीं कहा जा सकता है कि विज्ञान ने सब कुछ पता लगा लिया है। जीवन से सम्बन्धित अनेकों ऐसे रहस्य हैं जिनका उत्तर अभी विज्ञान के पास नहीं है। संयोग से इनकी कुछ चर्चा जैन-शास्त्रों में की गई हैं। हम यहां कुछ उन पहलुओं को चर्चा करेंगे जिन पर विज्ञान अभी अनुत्तरित है, लेकिन जैनदर्शन में उन पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

कोशिका : जीवन की मूल इकाई

कोशिका जीवन की मूल ईकाई है। प्रत्येक जीवित प्राणी, चाहें वह पेड़, पशु, पक्षी या मनुष्य हो, या फिर बैक्टेरिया जैसे सूक्ष्म जीव, सभी एक या अनेक कोशिकाओं से बने होते हैं। पेड़ और पशु-पक्षी बहुकोशिय प्राणी हैं। मनुष्य का शरीर लगभग सौ खरब कोशिकाओं से मिलकर बना होता है। सभी कोशिकाओं में एक बात सामान्य होती है कि ये सभी जीवित होती हैं। ये सभी इसी प्रकार से जीवित प्राणी हैं जिस प्रकार से आप और हम। ये साँस लेती हैं, खाना ग्रहण करती हैं और मल भी विसर्जित करती हैं तथा अन्त में मर जाती हैं।

बहुकोशिय प्राणियों के शरीर में जितनी भी कोशिकायें होती हैं, सभी एक जैसी नहीं होती हैं। इनकी शक्ल तथा आकार अलग-अलग होते हैं। ये कोशिकायें गोल, चौकोर, आयताकार, घनाकार तथा लम्बी या छोटी सभी प्रकार की होती हैं। मनुष्य की मांसल कोशिका लम्बी तथा पतली होती हैं तथा किनारों पर नुकीली होती हैं; तन्तु-कोशिका वृक्ष की लम्बी-लम्बी शाखाओं की तरह बड़ी होती है; रक्त कोशिका गोल होती है। कोशिका का आकार उसके निर्धारित काम के अनुसार होता है। जैसे—मांसल कोशिका को काम करने के समय सिकुड़ना पड़ता है, तन्तु कोशिका को पूरे शरीर में संदेश पहुंचाना होता है इत्यादि। अलग-अलग एक कोशिय प्राणियों की कोशिकायें भी भिन्न-भिन्न होती हैं।

कोशिका विभाजन एवं वृद्धि

जैसा कि ऊपर कहा है कि प्रत्येक प्राणी एक या अनेक कोशिकाओं से बना होता है। एक दिलचस्प बात यह है कि ये कोशिकायें पहले से ही मौजूद कोशिका द्वारा

पैदा होती है। नयी कोशिकायें विभाजन द्वारा बनती है, अतः जहाँ पहले एक कोशिका होती है वह विभाजन द्वारा दो कोशिकायें हो जाती हैं। एक कोशिय प्राणी अपना जीवन एक कोशिका से ही प्रारम्भ करते हैं तथा अपना जीवन उसी एक कोशिका के साथ पूर्ण कर लेते हैं।

मनुष्य सहित सभी बहु-कोशिय प्राणियों के जीवन का प्रारम्भ भी एक कोशिका से ही होता है, लेकिन बाद में कोशिका-विभाजन द्वारा अपनी वृद्धि करते हैं। मनुष्य में नर का शुक्राणु जब मादा के डिम्ब या अण्डाणु से मिलता है तो एक फलित (निषेचित) कोशिका का निर्माण होता है और मनुष्य के जीवन का प्रारम्भ यहीं से हो जाता है। बच्चे का विकास इसी एक फलित अण्डाणु से होता है। इस अण्डाणु में सभी सूचनाएं दर्ज होती हैं कि बच्चे को किस प्रकार से वृद्धि करनी है। यह फलित कोशिका वृद्धि को प्राप्त कर एक निश्चित आकार प्राप्त कर लेती हैं तो इसका विभाजन हो जाता है और दो कोशिकायें बन जाती हैं जो कि आपस में जुड़ी रहती हैं। ये दो कोशिकायें वृद्धि को प्राप्त होती हैं और विभाजित होकर चार कोशिकायें बनाती हैं। इस प्रकार कोशिकाओं का आकार में वृद्धि को प्राप्त होना और फिर विभाजित होकर अपनी संख्या में वृद्धि करना निरन्तर चलता रहता है। विभाजन के इसी क्रम में कुछ कोशिकायें अपनी मूल कोशिका से कुछ भिन्न होने लगती हैं तथा धीरे-धीरे कुछ विशिष्टता प्राप्त कर लेती हैं। ये विशिष्ट कोशिकायें मांसल-कोशिकाओं, त्वचा-कोशिकाओं, तन्तु-कोशिकाओं आदि में बदलने लगती हैं। फिर ये विशिष्ट-कोशिकायें एक वर्ग में इकट्ठी होकर टिश्यू का निर्माण करती हैं और फिर ये टिश्यू मिलकर ही विभिन्न अंगों, जैसे—हृदय, फेफड़े आदि की रचना करते हैं।

अन्य प्राणियों की तरह कोशिकायें भी मरती हैं। हमारे शरीर में स्थित सौ खरब कोशिकाओं में से प्रति मिनिट तीन अरब कोशिकायें मरती रहती हैं तथा उनका स्थान इतनी ही नयी कोशिकायें ले लेती हैं। ये नयी कोशिकायें पूर्व स्थित कोशिकाओं के विभाजन के द्वारा पैदा होती हैं। श्वेत रक्त कोशिका की आयु 13 दिन, लाल रक्त-कोशिका की आयु 120 दिन, लीवर की कोशिका की 18 माह और तन्तु कोशिका की आयु 100 वर्ष होती हैं।

कुछ मूल प्रश्न

अभी तक कोशिकाओं की वृद्धि एवं विभाजन के बारे में चर्चा की है। यहाँ कई प्रश्न पैदा होते हैं। वह क्या कारण है जो कि किसी कोशिका को विभाजित होने पर मजबूर करता है। कोशिकायें अपनी मूल कोशिका से विशिष्टता एवं भिन्नता को क्यों प्राप्त होती हैं? फिर एक जैसी कोशिकायें मिलकर टिश्यू तथा अंगों का निर्माण किसके निर्देश पर करती हैं? यह समय क्रम कौन निर्धारित करता है

कि किस कोशिका को कौन-सा कार्य करना है? कोशिका मृत्यु को क्यों प्राप्त होती हैं?

इन प्रश्नों के उत्तर जीन-विद्या के अन्तर्गत खोजने के प्रयत्न किये गये हैं। प्रत्येक कोशिका में गुणसूत्र होते हैं। ये गुणसूत्र डी. एन. ए. नामक तत्त्व द्वारा निर्मित होते हैं। प्रत्येक डी.एन.ए. पर अनेकों जीन स्थित होते हें। मनुष्य की कोशिका में 46 गुणसूत्र होते हैं तथा प्रत्येक गुणसूत्र पर लगभग एक लाख जीन स्थित होते हैं। ये जीन ही तय करते हैं कि किस कोशिका को कब विभाजित होना है, कब विशिष्टता (specialisation) एवं भिन्नता (differentiation) प्राप्त करनी है। ये जीन ही अलग-अलग टिश्यू तथा अंग-प्रत्यंग बनाने के निर्देश देते हैं। इस प्रकार जीवन से सम्बन्धित सारी सूचनों जीन्स के रूप में डी. एन. ए. पर अंकित होती हैं।

वैज्ञानिकों के सम्मुख चुनौतियाँ

हाँलाकि जीन की खोजों ने जीवन के अनेक रहस्यों पर से पर्दा उठा दिया है। जब से जेनोम की खोज ने पूर्णता प्राप्त कर ली हैं, तब से तो इन रहस्यों को समझना और भी अधिक आसान हो गया है। फिर भी बहुत से ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर दे पाना कठिन है तथा वे वैज्ञानिकों के सामने एक चुनौती बनकर खड़े हुये हैं।

भिन्नता (differentiation) को ठीक से समझ पाना और व्याख्या करना अभी वैज्ञानिकों के लिए एक चुनौती भरा काम है। हर बार कोशिका का द्वि विभाजन होता है, यह अपने आनुवंशिकी की सारी सूचनायें नव-विभाजित कोशिकाओं को दे देती हैं। प्राणी की प्रत्येक कोशिका में एक जैसे डी. एन. ए. होते है। तब वह क्या है जो एक कोशिका के डी. एन. ए. को एक एन्जाइम पैदा करने को कहता है तथा दूसरी कोशिका को दूसरा एन्जाइम पैदा करने का निर्देश देता है? ये अलग-अलग एन्जाइम ही भिन्नता (differentiation) पैदा करते हैं। इस प्रश्न का समाधान वैज्ञानिकों के पास उपलब्ध नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा कि जीवन की अधिकतर क्रियायें जीन द्वारा नियन्त्रित होती हैं, तो प्रश्न यह है कि इन जीन को कौन नियन्त्रित करता है? यह एक बड़ा प्रश्न है, इसका उत्तर भी अभी उपलब्ध नहीं है। कोशिका कुछ समय बाद मृत्यु को क्यों प्राप्त हो जाती है? जब शरीर की सारी कोशिकाओं में डी. एन. ए. तत्त्व तथा जीन एक जैसे हैं तो अलग-अलग कोशिकाओं की आयु अलग-अलग क्यों होती है? ये दूसरे प्रश्न हैं।

प्रत्येक कोशिका निर्दोष रूप से अपना कार्य करती हैं। यह नियमित तरीके से बढ़ती है तथा पुनुर्त्पादन करती है। यह अपने कार्य को पूर्ण क्षमता के साथ

करती है। वास्तव में, यह एक निश्चित क्रम में विभाजित होती है। कभी-कभी यह अपना नियन्त्रण खो देती है तथा अव्यवस्थित तरीके से वृद्धि होने लगती हैं। इस अव्यवस्थित वृद्धि के कारण ट्यूमर हो जाता है जो कि शरीर में स्थित दूसरी कोशिकाओं को भी अस्त-व्यस्त कर देता है। तथा आज प्रायः सभी जानते हैं कि इसे ही कैंसर कहते हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि किसी-किसी के शरीर में कुछ कोशिकायें अचानक अव्यवस्थित तरीके से वृद्धि करने क्यों लगती हैं? अभी इसका उत्तर पता लगाना बाकी है।

मैटाबोलिज्म संयुक्त रूप से उन रासायनिक प्रक्रिया को कहते हैं जो प्रत्येक प्राणी में भोजन को ऊर्जा तथा शरीर निर्माण के अन्य घटकों में परिवर्तित कर देती हैं। मैटाबोलिज्म विशिष्ट एन्जाइम पर निर्भर करते हैं जो कि डी. एन. ए. पर स्थित जीन के संकेतों द्वारा निर्मित होते हैं। कभी-कभी जीन-संकेतों में त्रुटि आ जाती है जिसकी वजह से मैटाबोलिक रोग हो जाता है। कई बार जीन-संकेतों में यह गड़बड़ी अचानक हो जाती है। प्रश्न यह है कि इस गड़बड़ी का कारण क्या है?

एक ही उत्तर : अपने-अपने कर्म

उपर्युक्त जितने भी अनुत्तरित प्रश्न एवं चुनौतियाँ हैं इन सबका उत्तर एक ही है और वह है पूर्वोपार्जित कर्म। ये कर्म ही हैं जो जीनों को विभिन्न प्रकार के निर्देश देते हैं तथा नियन्त्रित करते हैं।

जैनदर्शन में पर्याप्ति का वर्णन मिलता है। पर्याप्ति का तात्पर्य शारीरिक संरचना में विभिन्न अंगों के पूर्ण होने की क्षमता से है। पर्याप्तियां छह प्रकारकी होती हैं जो कि क्रमशः पूर्ण होती हैं। ये हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन। एक इन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय (स्पर्शन इन्द्रिय) और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियां होती हैं। द्वि-इन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय जीव पर्यन्त भाषा पर्याप्ति सहित पांच पर्याप्तियां होती हैं। सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के सभी (छहों) पर्याप्तियां होती हैं। समस्त पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है परन्तु पूर्ति क्रमानुसार होती हैं।

कोशिकाओं में जो वृद्धि, विभाजन, विशिष्टता (specialistion), भिन्नता (differentiation) आदि क्रिया होती है वह सब इन पर्याप्तियों का ही हिस्सा है। इन पर्याप्तियों का नियन्त्रण कर्मों द्वारा होता है। कोशिका की मृत्यु होती है तथा अनेक कोशिकाओं द्वारा निर्मित बहु-कोशिय प्राणी की भी मृत्यु होती है। यह मृत्यु आयु कर्म के हिसाब से होती है। जितना इनका आयुष्य होगा, उतने वर्ष तक जीवित रहेंगे वशर्ते कि इनका अकाल मरण न आ जाय।

कैंसर तथा मैटाबोलिक आदि रोगों का कारण अस्थिर नामकर्म, असाता

वेदनीय आदि कर्मों का उदय है। ये कर्म जब उदय में आते हैं तो कोशिकायें भी भिन्न प्रकार से या अव्यवस्थित तरीके से कार्य करने लगती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव-विज्ञान से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों का उत्तर जैनदर्शन में वर्णित कर्म के आधार पर दिया जा सकता है तथा जीवन के रहस्यों पर से पर्दा उठाया जा सकता है। अब यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि आखिर यह कर्म हैं कैसे? वस्तुतः कर्म पुद्गल का ही एक विशेष रूप है। ये आकार में बहुत छोटे होते हैं तथा मोटी से मोटी चट्टान को भी भेदकर पार निकल जाते हैं। अतः इनको किसी माइक्रोस्कोप से देख पाना संभव नहीं है। (कर्म के सम्बन्ध में अधिक जानकारी के लिए देखें –'कर्म तथा इसका आत्मा के साथ सम्बन्ध)

❐

क्या आत्मा का अस्तित्व है?

क्या आत्मा का कोई अस्तित्व है? यह प्रश्न कई लोगों के मस्तिष्क में अक्सर आता रहता है। इसका उत्तर प्रायः दर्शन शास्त्रों में खोजा जाता रहा है। इसके वैज्ञानिक प्रयोग अभी तक संभव नहीं हुए हैं। हाँलाकि मनोविज्ञान को लेकर कुछ प्रयोग हुए हैं लेकिन वे अभी आत्मा के अस्तित्व को पूर्ण रूप से स्थापित नहीं कर पाये हैं।

सभी भारतीय दर्शनों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। आत्मा को अजर, अमर तथा जड़ पदार्थ से भिन्न माना जाता है। गीता में श्री कृष्ण कहते हैं—"यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है; शरीर के नाश होने पर भी नाश नहीं होता है।" वे आगे कहते हैं—"जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीर को प्राप्त होता है।" कठोपनिषद् में आत्मा के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है—"जीवात्मा नित्य चेतन ज्ञान स्वरूप है; अनित्य, विनाशी, जड़ शरीर और भोगों से वास्तव में इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अनादि और अनन्त है, न तो इसका कोई कारण है और न कार्य ही, अतः यह जन्म-मरण से सर्वथा रहित सदा एकरस, सर्वथा निर्विकार है। शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता। आत्मा न तो किसी को मारता है और न इसे कोई मार ही सकता है।" जैन दर्शन के अनुसार "आत्मा दर्शन और ज्ञान स्वरूप वाला है, अर्थात् जानना और देखना इसका स्वभाव है। यह पुद्गल आदि जड़ पदार्थों से भिन्न है, नित्य (अविनाशी) है।" अन्य दर्शनों में भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।

पुनर्जन्म

आत्मा के अस्तित्व के साथ ही पुनर्जन्म को भी लगभग सभी ने स्वीकार किया है। पुनर्जन्म की घटनायें आये दिन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। इन घटनाओं को सूचीबद्ध करने के कई प्रयास भी हुये हैं। ये घटनायें आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने में सक्षम हो सकती हैं लेकिन अधिकतर मामलों में इन घटनाओं की सत्यता संदिग्ध पायी गई है। अतः किसी ठोस निर्णय पर नहीं पहुंचा

जा सका है। चूंकि आत्मा जड़ पदार्थों से भिन्न, अभौतिक (नॉन-मैटर) है, अतः यह किसी भी उपकरण से न पकड़े जाने वाला तत्त्व है, इसलिए आत्मा को लेकर प्रयोग कर पाना भी संभव नहीं है। लेकिन कुछ वैज्ञानिक तथ्य ऐसे हैं जो जड़ पदार्थों से भिन्न किसी अन्य तत्त्व की मौजूदगी की ओर इशारा करते हैं। और यह तत्त्व आत्मा ही हो सकता है। इसमें से कुछ की चर्चा आगे की पंक्तियों में कर रहे हैं।

पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ

पृथ्वी पहले तपता हुआ आग का एक गोला था। इसके पर्याप्त शीतल हो जाने पर अनुकूल वातावरण में कई प्रकार के जटिल प्रोटीन बनने लगे। इन जटिल प्रोटीनों के संघटन से कोशिका का निर्माण हुआ और अमीबा जैसे सूक्ष्म जीव अस्तित्व में आये। कई वैज्ञानिकों का मत है कि जीव तत्त्व का निर्माण जटिल रसायनों के संश्लेषण द्वारा नहीं हुआ है बल्कि यह किसी अन्य ग्रह से आया है। अन्य ग्रहों पर भी जीवन की पूर्ण संभावनायें हैं। यह जीव तत्त्व आत्मा ही है जो कि जड़ पदार्थों से निर्मित नहीं हो सकता है। जड़ पदार्थों से निर्मित तो मात्र शरीर है जिसका निर्माण पृथ्वी पर हुआ।

ब्रह्माण्ड का विस्तार

खगोल वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड का निरन्तर विस्तार हो रहा है। इस बात को प्रयोगों द्वारा भी सिद्ध किया जा चुका है। वैज्ञानिकों का मत है कि ब्रह्माण्ड में संकुचन एवं विस्तरण होता रहता है। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि यदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मात्र जड़ तत्त्व से ही निर्मित होता तो इसमें एक स्थिरता होनी चाहिए, इसमें संकुचन-विस्तरण नहीं होना चाहिए। फिर यह विस्तार क्यों हो रहा है? यह इस बात की ओर इशारा करता है कि ब्रह्माण्ड मात्र जड़ पदार्थ से निर्मित नहीं है, बल्कि इसमें जड़-पदार्थ से भिन्न अन्य तत्त्व भी मौजूद है जिस पर भौतिकी के नियम लागू नहीं होते हैं। जड़ से भिन्न यह तत्त्व आत्मा हो सकता है।

अंग-प्रत्यारोपण

अंग-प्रत्यारोपण आज एक आम बात हो गयी है। आँख, गुर्दा, हृदय आदि सभी अंग-प्रत्यंगों का प्रत्यारोपण किया जा सकता है। सैद्धान्तिक तौर पर मस्तिष्क का प्रत्यारोपण भी सम्भव है। किसी के शरीर से पूरे का पूरा खून निकाल कर किसी अन्य के खून को डाला जा सकता है। इन सबसे जुड़ी एक दिलचस्प बात यह है

कि चाहे व्यक्ति के शरीर का पूरे का पूरा खून बदल दो, चाहे उसके गुर्दे, हृदय तथा मस्तिष्क को बदल दो। फिर भी यह व्यक्ति अपना वजूद, अपनी पहिचान बनाये रखता है। उसका चित्त पहले जैसा बना रहता है। अपने परिवारी जनों एवं मित्रों के प्रति उसका प्रेम, उसकी स्मरण शक्ति यथावत बनी रहती है। इससे सिद्ध होता है कि चाहे सारे अंग-प्रत्यंग बदल दिये जायें, चाहे पूरा खून बदल दिया जाय, फिर भी कुछ ऐसा अवश्य रहता है जो व्यक्ति को अपनी मूल स्थिति से अलग नहीं होने देता है, उसे अपने पूर्व संस्कारों से युक्त बने रहने को बाध्य करता है। और निश्चित तौर पर यह चैतन्य युक्त आत्मा ही है।

❐

जैनदर्शन में सूक्ष्म-जीवों की स्थिति

1 प्रस्तावना

जीवों को विज्ञान में मुख्यतः दो वर्गों में बाँटा गया है—वनस्पति और पशु। लेकिन बहुत से ऐसे सूक्ष्म-जीव हैं जो पूर्णतः न तो वनस्पति के लक्षणों वाले हैं और न ही पूर्णतः पशु के लक्षणों वाले ही हैं। वे एक तीसरा ही वर्ग बनाते हैं। आज हम इन सूक्ष्म जीवों के बारे में काफी जानते हैं। जैन-दार्शनिकों ने भी सभी जीवों के बारे में विस्तार से चर्चा की है तथा उन जीवों को अनेक वर्गों में विभाजित भी किया है। यहाँ तक कि उन्होंने उन सूक्ष्म जीवों की चर्चा भी की है जिन्हें हम इलैक्ट्रोन माइक्रोस्कोप से भी न देख सकें। उन्होंने प्रत्येक वर्ग के जीवों के लक्षणों का भी वर्णन किया है। इसके बावजूद भी यह स्पष्ट नहीं है कि विज्ञान में वर्णित सूक्ष्म-जीवों (micro-organism) को हम क्या मानें-त्रस या स्थावर? यहाँ हम इन सूक्ष्म जीवों के बारे में ही चर्चा करेंगे तथा उन्हें जैनदर्शन के अनुसार वर्गीकृत करने का प्रयत्न करेंगे।

2 सूक्ष्म-जीव (micro-organism)

सूक्ष्म-जीव सजीवों का वह वर्ग है जो आकार में बहुत छोटे होते हैं तथा जिन्हें हम अपनी खुली आँखों से न देख सकें। ये प्रायः सभी जगह पाये जाते हैं—मिट्टी में, पानी में तथा हमारे चारों ओर स्थित वायु में वे सूक्ष्म-जीव अनेक आकार में पाये जाते हैं। सबसे सूक्ष्म तो मात्र कुछ माइक्रोन (1 माइक्रोन=0.001 मि. मी) साइज के ही होते हैं तथा उनके अध्ययन के लिए विशिष्ट सूक्ष्मदर्शी यन्त्र की आवश्यकता पड़ती हैं। बड़े आकार के सूक्ष्मजीवों को साधारण सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखा जा सकता है। लेकिन कुछ तो इतने सूक्ष्म होते हैं जिन्हें इलैक्ट्रोन माइक्रोस्कोप द्वारा ही देखा जा सकता है।

सूक्ष्म जीव प्रायः सभी प्रकार के परिवेश, जैसे—गर्म मौसम, अतिशीतल पानी, अधिक लवण युक्त पानी, गंधक युक्त एवं अन्य कार्बनिक पदार्थों, रेगिस्तान एवं दलदली प्रदेशों आदि में जीवित रह सकते हैं। कुछ सूक्ष्मजीव तो अधिक गर्म एवं शुष्क जैसे विपरीत वातावरण में भी जीवित रह सकते हैं। कुछ बिना ऑक्सीजन के भी जीवित रह सकते हैं।

सूक्ष्म-जीव कई प्रकार से हमारी मदद करते हैं, लेकिन उनमें से कुछ बीमारी पैदा करते हैं। सर्दी-जुकाम, मलेरिया, त्वचा के रोग, इन्फ्लूएन्जा आदि अनेक बीमारियां कुछ सूक्ष्मजीवों द्वारा ही फैलती हैं।

सूक्ष्म-जीव पांच प्रकार के होते हैं—प्रोटोजोआ तथा युग्लीना, फंजाई, एल्गे, बैक्टेरिया और वायरस तथा सब-वायरस। वायरस सबसे छोटे होते हैं। वे सजीव तथा निर्जीव के मध्य सीमा रेखा पर स्थित होते हैं। इनकी स्वयं की कोई कोशिका नहीं होती है तथा ये अन्य जीवों की कोशिकाओं में फलीभूत होते हैं। सब-वायरस इनसे भी अधिक सूक्ष्म होते हैं। हम यहाँ इन सूक्ष्म जीवों के बारे में भी कुछ चर्चा करेंगे।

2.1 प्रोटोजोआ

प्रोटोजोआ एक-कोशिय जीव हैं जो कि ठोस वस्तुओं तथा बैक्टेरिया को अपना भोजन बनाते हैं। ये सरल द्विविभाजन द्वारा प्रजनन करते हैं। ये मात्र ऑक्सीजन की मौजूदगी में कार्य कर सकते हैं। प्रोटोजोआ की तीस-हजार से अधिक प्रजातियाँ पायी जाती हैं। ये अलग-अलग शक्ल एवं साइज में मिलते हैं। ये प्रायः नमी वाले स्थानों, जैसे—समुद्र, नम-मिट्टी तथा ताजा पानी में पाये जाते हैं। कुछ प्रोटोजोआ ध्रुवीय क्षेत्रों तथा ऊंचे पहाड़ों पर भी पाये जाते हैं। ये सरल एवं जटिल दोनों प्रकार की संरचना वाले होते हैं। उदाहरण के तौर पर अमीबा का कोई निश्चित आकार नहीं होता है तथा वह अपना आकार बदल भी सकता है। दूसरी ओर पैरामीनियम चप्पल की शक्ल का होता है तथा इसके मुँह होता है और एक पूँछ जैसा भाग भी होता है जो चलने में मदद करता है। साथ में कुछ अन्य ढाँचा भी होता है।

अमीबा अपने शरीर को फैलाता है तथा उसी की मदद से चलता है। यह अपने भोजन को एक विशिष्ट प्रकार से निगल लेता है। यहाँ पाचन एक रासायनिक क्रिया द्वारा सम्पन्न होता है जिसमें एन्जाइम भी मदद करते हैं। एंजाइम विशिष्ट प्रकार के अणु होते हैं जो कि उनकी कोशिकाओं में पाये जाते हैं। ये एंजाइम भोजन को पचाने में मदद करते हैं। जब अमीबा साइज में बड़ा हो जाता है तो दो में विभक्त हो जाता है तथा इस प्रकार यह अपना प्रजनन करता है।

अमीबा भी सांस लेता है। शरीर के अन्दर खाद्य पदार्थों का वितरण विसरण (diffusion) द्वारा होता हैं तथा मल-क्षेपण भी इसी क्रिया द्वारा होता है। विसरण (diffusion) एक धीमी प्रक्रिया है। यद्यपि केंचुआ तथा जोक अमीबा से उच्च श्रेणी के जीव हैं, लेकिन ये ऑक्सीजन का अवशोषण अपनी त्वचा द्वारा करते हैं।

2.2 युग्लीना

प्रोटिस्टा सजीवों का एक ऐसा वर्ग है जो वनस्पति एवं पशुओं के बीच का है। युग्लीना उनमें से एक है। यह ताजे-स्वच्छ जल एवं गर्म वातावरण में मिलता है। यह वृक्षों की तरह स्वयं अपना भोजन तैयार करता है। साथ ही उसके मुंह भी होता है। यह मुंह से भी अपना भोजन ले सकता है।

2.3 फंजाई

सड़े हुये सन्तरे पर नीले-हरे रंग के मखमली धब्बे, पुराने अचार और मुरब्बों तथा बासी रोटी पर पाये जाने वाले चिकतरे धब्बे, पुराने मैले कपड़ों तथा मोजों पर पाये जाने वाले हरे धब्बे, या फिर मानसून में पेड़ों के तनों पर पाये जाने वाले धब्बे ये सब फंजाई या फँफूद के ही अलग-अलग प्रकार हैं। फँफूद अनेक प्रकार की होती है। यह एक कोशिय तथा बहु-कोशिय दोनों प्रकार की होती हैं। ये स्पोर भी पैदा करती है तथा लैंगिक और अलैंगिक दोनों प्रकार से प्रजनन करती है। इसकी एक लाख से अधिक प्रजातियाँ पाई जाती हैं।

फँफूद को प्रकाश-संश्लेषण रहित वनस्पति माना जाता हैं यह कार्बनिक पदार्थों को अपना भोजन बनाती हैं। ये बैक्टेरिया से बड़ी होती हैं।

फँफूद दो वर्गों में पायी जाती हैं—यीस्ट तथा मोल्ड। यीस्ट मुख्यतः एक-कोशिय होते हैं जबकि मोल्ड बहुकोशिय होते हैं तथा तंतु की तरह इनकी बनावट होती है। मोल्ड हमारी तरह ऑक्सीजन पर निर्भर करते हैं जबकि यीस्ट ऑक्सीजन एवं ऑक्सीजन विहीन दोनों प्रकार के वातावरण में जीवित रह सकते हैं।

कुछ फँफूद बीमारी फैलाते हैं जब कि कुछ फँफूद दवाईयाँ बनाने के काम भी आते हैं। पैंसलीन जैसी बहुमूल्य औषधि फँफूद से ही बनाई जाती है। कुछ फँफूदों का प्रयोग खाद्य पदार्थ बनाने में भी किया जाता है।

2.4 एल्गे

इसे हिन्दी में काई भी कहते हैं। अनेक तालाब, पोखर, रुके हुये पानी पर हरे रंग की तैरती हुई परत या फिर पानी की टंकीयाँ तथा स्नानागार के किनारों पर हरे रंग की परत को सामान्यतः देखा जा सकता है। हरे रंग की इस परत को ही एल्गे या काई कहते हैं। ये वनस्पति जैसे ही सजीव होते हैं तथा इनमें क्लोरोफिल नाम का पदार्थ भी होता है। ये प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया द्वारा अपना भोजन बनाती है तथा नमी वाले स्थानों पर पनपती है। इसी कारण इसे पानी की घास की संज्ञा भी दे दी जाती है।

एल्गे या काई एककोशिय या बहुकोशिय दोनों प्रकार की हो सकती है। इनकी लम्बाई माइक्रोन से लेकर कई मीटर तक हो सकती है। बैक्टेरिया की तरह ये भी प्रायः सभी प्रकार के वातावरण में पायी जाती हैं। ये कुछ जलचर प्राणियों के साथ-साथ भी वृद्धि करती हैं। कुछ एल्गे अनेक प्रकार की कोशिकाओं की कॉलोनियों से मुक्त होती हैं तथा ये अलग-अलग कोशिकायें अलग-अलग कार्य करती हैं। कई एल्गे कुछ विशिष्ट रंगों से युक्त होती हैं, जैसे—लाल, भूरी तथा हरी।

2.5 बैक्टेरिया

बैक्टेरिया एककोशिय सूक्ष्म जीव होते हैं। ये अलग-अलग शक्ल तथा साइज में पाये जाते हैं। इनमें से कुछ स्वतन्त्र कोशिका के रूप में, कुछ कोशिकाओं के समूह के रूप में तथा कुछ कोशिकाओं की लड़ी के रूप में रहते हैं। इनकी कोशिकाओं की ऊपरी सतह कठोर कवच यक्त होती है। अधिकतर बैक्टेरिया 0.3 से 2 माइक्रोन साइज के होते हैं तथा उन्हें सूक्ष्म-दर्शी द्वारा ही देखा जा सकता है। कुछ वैज्ञानिक बैक्टेरिया को वनस्पति की श्रेणी में रखते हैं तथा कुछ पशु की श्रेणी में।

बैक्टेरिया हजारों प्रकार के होते हैं उनमें से अधिकतर मनुष्यों के लिए हानिकारक होते हैं। काफी संख्या में बैक्टेरिया मनुष्य के शरीर के अन्दर भी पाये जाते हैं। लेकिन वे नुकसान नहीं पहुंचाते हैं। बैक्टेरिया की कुछ प्रजातियाँ बीमारी फैलाती हैं तथा कुछ प्रजातियाँ लाभकारक भी होती हैं।

2.5.1 बैक्टेरिया कहाँ रहते हैं?

बैक्टेरिया प्रायः सभी प्रकार के वातावरण में तथा सभी स्थानों पर रह सकते हैं। कुछ बैक्टेरिया तो उन विषम परिस्थितियों में भी जीवित रह सकते हैं जिनमें मनुष्य भी जीवित न रह सके। हवा, पानी तथा मिट्टी की ऊपरी सतह में भी बैक्टेरिया मिलते हैं। कुछ बैक्टेरिया हमारे पाचन-तन्त्र एवं श्वसन-तन्त्र में भी रहते हैं तथा कुछ मनुष्य तथा पशुओं की त्वचा के नीचे भी रहते हैं।

कुछ बैक्टेरिया ऑक्सीजन में जीवित रहते हैं तथा कुछ आक्सीजन के वगैर भी जीवित रह सकते हैं। कुछ अन्य बैक्टेरिया ऑक्सीजन की उपस्थिति में जीवित नहीं रह सकते हैं।

कुछ बैक्टेरिया हवा, पानी, तथा भोजन के अभाव में एक मोटी कवच बना लेते हैं तथा स्वयं को जीवित रख पाते हैं। इस नयी कवच के चारों ओर उपस्थित कोशिका तत्त्व नष्ट हो जाता है तथा वे स्वयं निष्क्रिय हो जाते हैं; इन्हें बैक्टेरिया के 'स्पोर' कहते हैं। ये स्पोर दस वर्ष या इससे अधिक भी अस्तित्व में बने रहते

हैं क्योंकि इनमें विषम परिस्थितियों को झेलने की क्षमता होती है। यदि इन स्पोरों को अनुकल वातावरण मिले तो फिर से ये एक सक्रिय बैक्टेरिया के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

2.5.2 बैक्टेरिया चलते कैसे हैं?

बैक्टेरिया हवा तथा पानी की धाराओं के जरिये काफी लम्बा मार्ग तय कर सकते हैं। कपड़े, बर्तन तथा अन्य दूसरी वस्तुयें भी बैक्टेरिया को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते हैं। कुछ बैक्टेरिया के एक पतले बाल जैसा तन्तु होता है जिसकी मदद से वे तैर सकते हैं। कुछ बैक्टेरिया, जिसके यह व्यवस्था नहीं होती है, वे रैंग कर भी चलते हैं।

2.5.3 बैक्टेरिया भोजन कैसे प्राप्त करते हैं?

अधिकतर बैक्टेरिया दूसरे जीवों को अपना भोजन बनाते हैं। कुछ प्रजातियाँ प्रकाश-संश्लेषण द्वारा अपना भोजन बनाती हैं। कुछ बैक्टेरिया दोनों प्रकार से भोजन ग्रहण कर लेते हैं। अधिकतर बैक्टेरिया मृत जीवों को अपना भोजन बनाते हैं। कुछ दूसरे परजीवी होते हैं। कुछ परजीवी बैक्टेरिया अपने आश्रयदाताओं को कोई नुकसान नहीं पहुंचाते हैं जब कि कुछ अन्य बीमारियाँ पैदा करते हैं।

2.5.4 बैक्टेरिया प्रजनन कैसे करते हैं?

अधिकतर बैक्टेरिया अयोनिज (asexually) प्रजनन करते हैं जिसमें द्विविभाजन द्वारा एक जैसे दो बैक्टेरिया बनते हैं। अधिकतर बैक्टेरिया जल्दी से विभाजित हो जाते हैं तथा शीघ्र ही अपनी वंशवृद्धि करते हैं। कुछ तो मात्र 9.5 मिनट में ही दो हो जाते हैं। यदि इन्हें अच्छी खुराक उपलब्ध कराई जाये तो ये दस घण्टे में एक बैक्टेरिया के दस लाख हो जायं। नम तथा गर्म वातावरण इनकी वृद्धि के लिए अनुकूल होता है।

जब एक बैक्टेरिया द्विविभाजन करता है तो नये बने दो बैक्टेरिया में ठीक वैसा ही डी. एन. ए. होता है जैसा कि मूल बैक्टेरिया में होता है। जब कुछ बैक्टेरिया प्रजनन के दौरान दूसरे बैक्टेरिया के डी. एन. ए. का कुछ हिस्सा ग्रहण कर लेते हैं तो इस प्रकार के प्रजनन में नये उत्पन्न बैक्टेरिया के डी.एन.ए. मूल बैक्टेरिया में उपस्थित डी.एन.ए. से अलग होता है। इस प्रकार के प्रजनन को अयोनिज प्रजनन माना गया है।

2.6 वायरस तथा सब-वायरस

वायरस वे सूक्ष्म जीव है जो दूसरे जीवों की कोशिकाओं में रहते हैं। इनका आकार

0.01 माइक्रोन से लेकर 0.3 माइक्रोन तक होता है। यद्यपि वायरस बहुत ही क्षुद्र एवं सरल होते हैं लेकिन ये कई प्रकार की बीमारियों के मुख्य कारण होते हैं। वायरस इतने सूक्ष्म होते हैं कि वैज्ञानिक इन्हें कभी सजीव तो कभी निर्जीव मानते हैं। ये स्वयं वृद्धि नहीं करते हैं। इनकी स्वयं की कोई कोशिका नहीं होती है। इनके कोशिका का एक हिस्सा मात्र ही होता है। ये किसी अन्य की कोशिका, जैसे बैक्टेरिया में प्रवेश करने के पश्चात ही वंश-वृद्धि करते हैं। ये उस कोशिका की ऊर्जा को अपनी वंश-वृद्धि में प्रयोग करत ह। जब य उस आश्रयदाता कोशिका के अन्दर वृद्धि करते हैं तो कोशिका फट जाती है तथा वायरस बाहर फैल जाते हैं। वायरस छड़ या गेंद आदि के आकार के होते हैं।

इन वायरसों से सूक्ष्मजीव भी पाये जाते हैं जिन्हें सब-वायरस कहते हैं। इनके सम्बन्ध में अभी खोज जारी है।

3 जैन-दर्शनानुसार जीवों का वर्गीकरण

जैनदर्शन के अनुसार संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं—त्रस तथा स्थावर। जिनके त्रस नामकर्म का उदय है वे त्रस-जीव कहलाते हैं। लोक में जो दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव दिखाई देते हैं वे सभी त्रस-जीव हैं। त्रस-जीव अपने भोजन व सुरक्षा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाते आते दिखाई पड़ते हैं। त्रस-जीव के कम से कम दो इन्द्रियां (स्पर्शन-इन्द्रिय व रसना-इन्द्रिय) अवश्य होती हैं। पंचेन्द्रिय त्रसों में कुछ के मन भी होता है। जो जीव स्थावर-नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रिय में उत्पन्न होते हैं वे स्थावर कहलाते हैं। वायु और जल को छोड़कर शेष स्थावर जीव गमन करते हुए दिखाई नहीं देते।

स्थावर जीव पांच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पति। इन सब जीवों के मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती हैं। पृथ्वी अर्थात्—मिट्टी, पत्थर आदि ही है शरीर जिनका वे पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं। इसी प्रकार जल ही है शरीर जिनका वे जलकायिक जीव, अग्नि ही है शरीर जिनका वे अग्निकायिक जीव तथा वायु ही है शरीर जिनका वे वायु-कायिक जीव कहलाते हैं। विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधे वनस्पतिकायिक जीव हैं।

त्रस जीवों को भी इन्द्रियों के आधार पर चार वर्गों में विभक्त किया गया है—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा पांच इन्द्रिय जीव। जिन जीवों के स्पर्शन तथा रसना या जिव्हा ये दो इन्द्रियाँ होती हैं वे दो इन्द्रिय जीव कहलाते हैं; जैसे—केंचुआ, जोंक आदि। जिन जीवों के स्पर्शन, रसना तथा घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पायी जाती हैं वे तीन इन्द्रिय जीव कहलाते हैं; जैसे—चींटी, जुऐं आदि। जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु (नेत्र) ये चार इन्द्रियाँ पायी जाती हैं वे

चार इन्द्रिय जीव कहलाते हैं; जैसे—मक्खी, मच्छर आदि। जिन जीवों के स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण ये पांचों इन्द्रियाँ पायी जाती हैं, वे पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं: जैसे—गाय, घोड़ा, मनुष्य आदि।

दो, तीन व चार इन्द्रिय जीव यदि सूक्ष्म आकार वाले हैं, तो यह पता लगाना मुश्किल हो सकता है कि यह कितने इन्द्रिय जीव हैं। लेकिन इन जीवों की अपनी कुछ विशिष्टता होती है जिसे देखकर यह पता लगाया जा सकता है कि अमुक जीव कितने इन्द्रिय वाला है। दो इन्द्रिय जीवों के न तो पैर होते हैं और न ही पंख। वे जमीन पर पेट के बल रेंग कर चलते हैं। तीन इन्द्रिय जीवों के पैर तो होते हैं, लेकिन पंख नहीं होते हैं। ये अपने पैरों की सहायता से चलते हैं। चार इन्द्रिय जीवों के पैर भी होते हैं तथा पंख भी। वे चल भी सकते हैं और उड़ भी सकते हैं।

दो इन्द्रिय जीवों की आयु 48 मिनट से 12 वर्ष तक हो सकती है। तीन इन्द्रिय जीवों की आयु 48 मिनट से 49 दिन तक हो सकती है। तथा चार इन्द्रिय जीवों की आयु 48 मिनट से 6 माह तक हो सकती है।

प्रत्येक जीव (संसारी) के चार, पांच या छह पर्याप्तियाँ होती हैं। ये पर्याप्ति हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मन। एक इन्द्रिय जीवों के चार पर्याप्ति होती है जबकि दो , तीन या चार इन्द्रिय जीवों के पांच तथा पंचेन्द्रिय जीवों के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

4 विवेचना एवं निष्कर्ष

यहाँ हम उपरोक्त वर्णित सूक्ष्म जीवों (micro-organism) को जैनदर्शन के अनुसार वर्गीकृत करने का प्रयत्न करेंगे। सबसे पहले हम प्रोटोजोआ तथा युग्लीना की चर्चा करेंगे। प्रोटोजोआ अपने शरीर का विस्तरण करके किसी भी दिशा में गमन कर सकता है, तथा अपने भोजन को निगलने में भी अपने शरीर को एक विशेष आकृति देता है। यद्यपि इसके कोई स्पष्ट मुख नहीं होता है, फिर भी वह भोजन के कणों को निगल लेता है। वैज्ञानिक इसे प्राथमिक पशु मानते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुये जैन वर्गीकरण के अनुसार उन्हें दो इन्द्रिय जीवों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

युग्लीना प्रकाश-संश्लेषण द्वारा अपना भोजन स्वयं बना सकता है, लेकिन साथ ही इसके स्पष्ट एक मुँह भी होता हे। इसे दो इन्द्रिय जीव ही मानना चाहिए।

फफूँद तथा काई तो वनस्पति जैसी ही है। काई तो प्रकाश-संश्लेषण द्वारा अपना भोजन स्वयं बनाते हैं जबकि फफूँद एक गैर-प्रकाश संश्लेषित वनस्पति है। वस्तुतः काई कार्बनिक तत्त्वों को अपना भोजन बना लेते हैं। इन दोनों को वनस्पतिकायिक जीव मानना चाहिए।

अब सबसे अधिक दिलचस्प जीव हैं बैक्टेरिया। बैक्टेरिया वनस्पति हैं या पशु, स्थावर हैं या त्रस, यह चर्चा करने से पहले हमें वनस्पति एवं पशु के बीच अन्तर को समझना होगा। इनमें मुख्य अन्तर यह है कि वनस्पति में तंतु-तंत्र (nervous system) का अभाव होता है जब कि पशुओं में तंतु-तन्त्र होता है। वनस्पति में हारमोन्स उस तरह कार्य नहीं करते हैं जैसे कि पशुओं में करते हैं। बैक्टेरिया में भी तंतु-तन्त्र का अभाव होता है, अतः इन्हें पशु की श्रेणी में तो नहीं रखा जा सकता है। इसलिए इन्हें वनस्पति की श्रेणी में रखना चाहिए तथा इन्हें स्थावर मानना चाहिए। क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने इन्हें एकेन्द्रिय स्थावर माना है। डॉ. नन्दलाल जैन, डॉ. सिकधर, और डॉ. अशोक कुमार जैन भी बैक्टेरिया को एकेन्द्रिय-वनस्पति ही मानते हैं। लेकिन कुछ बैक्टेरिया पानी तथा हवा में चलते हुये दिखते हैं, इस कारण इसके त्रस होने का भ्रम होने लगता है।

किसी निर्णय पर पहुंचने से पहले हमें सर्व-प्रथम निम्न बिन्दुओं पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए—(1) जैनधर्म में छने पानी के प्रयोग पर विशेष जोर दिया जाता है। यह माना जाता है कि मोटे सूती कपड़े से पानी को छानने पर पानी में स्थित त्रस जीव अलग हो जाते हैं तथा इस प्रकार जो छना पानी प्राप्त होता है वह त्रस जीवों से रहित होता है। त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए गृहस्थों को यह आवश्यक है कि वे पीने में या अन्य किसी भी कार्य में छने पानी का ही प्रयोग करें। इतना ही नहीं, मन्दिरों में मूर्ति का अभिषेक करने के लिए तथा अन्य अनुष्ठानों के लिए भी छने और प्रासुक किए गए पानी के प्रयोग का ही विधान है। अतः यह निर्विवाद है कि छने पानी में त्रस जीवों का अभाव हो जाता है, मात्र स्थावर जीव ही उसमें रह सकते हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि छने हुये पानी में भी अनेकों बैक्टेरिया होते हैं और इनकी संख्या अनछने पानी में मौजूद बैक्टेरिया की संख्या के लगभग बराबर ही होती है। अतः छने हुये पानी में पाये जाने वाले बैक्टेरिया को एकेन्द्रिय स्थावर ही मानना चाहिए, त्रस नहीं। (2) जिस हवा में हम श्वास लेते हैं उसमें बहुत से बैक्टेरिया होते हैं इन बैक्टेरिया को किसी भी प्रकार से हवा में से हटाया नहीं जा सकता है। साथ ही यह भी सही है कि बिना हवा को ग्रहण किये हम जीवित नहीं रह सकते हैं। यदि बैक्टेरिया को त्रस मान लिया जाए तो कोई भी यहाँ तक कि साधुजन भी त्रस हिंसा से नहीं बच सकते। जो कि उपयुक्त नहीं जान पड़ता। अतः बैक्टीरिया को स्थावर जीवों के अन्तर्गत रखना ही उचित है।

(3) जैनधर्म के अनुसार दही तथा छाछ का प्रयोग साधु जन भी कर सकते हैं। विज्ञान के अनुसार दही व छाछ में भी बैक्टेरिया पाए जाते हैं। यदि दही व छाछ में मौजूद बैक्टेरिया त्रस जीव की कोटि में आते होते तो विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न जैनाचार्य दही या छाछ को खाने की अनुमति कदापि नहीं देते। अतः यह

मानना ही समीचीन होगा कि बैक्टेरिया त्रस नहीं होते, स्थावर ही होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बैक्टेरिया एकेन्द्रिय स्थावर होते हैं, त्रस नहीं। कुछ जैन दार्शनिकों ने एकेन्द्रिय वायुकायिक एवं जलकायिक जीवों को भी त्रस की संज्ञा दे दी है क्योंकि वायुकायिक तथा जलकायिक जीव गमन भी करते दिखाई पड़ते हैं। लेकिन मात्र गमन करने से ही जीव को द्वि-इन्द्रिय या उससे अधिक वाला त्रस नहीं कहा जा सकता है। त्रस नामकर्म के उदय से जिनके दो, तीन आदि इन्द्रियां होती है वह त्रस-जीव कहलाते हैं। जैनाचार्यों द्वारा कहा गया त्रस जीव का यह लक्षण ही निरापद है।

अब प्रश्न यह है कि बैक्टेरिया को पांच स्थावरों में से कौन-सा मानें। जैसा कि हम जानते हैं कि बैक्टेरिया प्रायः सभी स्थानों-भूमि (soil), जल तथा हवा में पाये जाते हैं। अतः जो बैक्टेरिया भूमि में पाये जाते हैं उन्हें पृथ्वीकायिक जीव मानना चाहिए। इसी प्रकार जो बैक्टेरिया जल में पाये जाते हैं उन्हें जलकायिक तथा जो हवा में पाये जाते हैं इन्हें वायुकायिक जीव मानना चाहिए। आज कुछ ऐसे बैक्टेरिया की खोज भी जा चुकी है जो 60-70°C ताप पर भी जीवित रह सकते हैं। ऐसे बैक्टेरियां को अग्निकायिक जीव माना जा सकता है।

अब वायरस तथा सब-वायरस रह जाते हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि ये सजीव और निर्जीव के मध्य विभाजन रेखा जैसा कार्य करते हैं तथा इनकी स्वयं की कोई कोशिका नहीं होती है जबकि बैक्टेरिया की स्वयं की पूर्ण विकसित कोशिका होती है। अतः वायरस तथा सब-वायरस को बैक्टेरिया से उच्च श्रेणी का तो नहीं माना जा सकता है। पर ये भी एकेन्द्रिय स्थावर जीव है। चूँकि अधिकतर वायरस वायु में पाये जाते हैं, अतः उन्हें वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव माना जा सकता है।

5 दैनिक जीवन में सूक्ष्म-जीव

हम बिना हवा व पानी के जीवित नहीं रह सकते हैं। ये हमारे जीवन के अनिवार्य घटक हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि हवा व पानी दोनों में बैक्टेरिया रहते हैं। अतः हम बहुत से बैक्टेरियाज् को सांस लेने तथा पानी पीने के दौरान ग्रहण करते हैं। इसके अलावा बहुत से ऐसे खाद्य पदार्थ हैं जिनमें बहुत से सूक्ष्म-जीव रहते हैं, लेकिन इनसे बचा नहीं जा सकता है। बहुत से खाद्य पदार्थों को इन सूक्ष्म जीवों से बचाने के लिए कई प्रकार के उद्यम किये जाते हैं। इन खाद्य पदार्थों में से कुछ की चर्चा हम आगे करेंगे तथा देखेंगे कि यदि इन सूक्ष्म जीवों से पूर्ण रूप से बचा नहीं जा सकता है तो क्या थोड़ा-बहुत बचा जा सकता है, या नहीं?

5.1 ब्रेड, इडली व डोसा

ब्रेड, इडली व डोसा बनाने में फंजाई (फफूंद) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यीस्ट फंजाई का ही एक प्रकार है, इसी की वजह से ब्रेड बहुत मुलायम बनती है। जब चीनी व गर्म पानी के साथ यीष्ट को मैंदा या आटे में मिलाया जाता है तो आटे में खमीर उठने लगता है। चीनी तथा गर्म पानी यीस्ट की वृद्धि दर अधिक कर देते हैं। प्रजनन के दौरान यीस्ट कार्बन डाईआक्साइड गैस छोड़ते हैं। गैस के बुदबुदे आटे को पोला बना देते हैं जिससे आटा फूलने लगता है, इसी को खमीर उठना बोलते हैं। जब इस आटे को सेका जाता है तो गैस निकल जाती है तथा ब्रेड बहुत हल्की, मुलायम तथा स्पोंजी बनती है।

इडली तथा डोसा बनाने में पहले दाल को कुछ समय के लिए भिगोया जाता है। जिससे दाल कुछ फूलने लगती हैं फिर इस दाल को पीसा जाता है तथा कुछ समय के लिए रखा जाता है। ऐसा करने पर दाल में खमीर उठने लगता है यानि यीस्ट पैदा होने लगते हैं। यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि आखिर यीस्ट आता कहां से है? वस्तुतः यह हमारी हथेलियों से भी आ सकता है और हवा में से भी।

अब प्रश्न यह है कि जब ये खाद्य पदार्थ यीस्ट द्वारा बनते हैं जो एक तरह का सूक्ष्म जीवाणु हैं तो क्या हमें इनको खाना चाहिए या नहीं ? जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि फंजाई एकेन्द्रिय जीव है तथा इन्हें वनस्पति की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। अतः जिन लोगों ने साधारण वनस्पति का त्याग नहीं किया है वे तो इसे ग्रहण कर सकते हैं और जिन्होंने त्याग कर दिया है वे इसे नहीं ले सकते हैं। यहाँ यीस्ट (फंजाई) को साधारण वनस्पति की श्रेणी में रखना चाहिये क्योंकि खमीर उठाने में अनेकों यीस्ट का योगदान रहता है।

5.2 पेयजल में बैक्टेरिया

पानी को पीने, खाना बनाने सहित अनेकों कार्य में प्रयोग में लाया जाता है। पानी का छान कर प्रयोग में लाने का विधान है। लेकिन मोटे कपड़े में छानने मात्र से बैक्टेरिया अलग नहीं होते हैं। उन्हें अन्य उपायों, जैसे—प्रासुकीकरण आदि के द्वारा अलग किया जा सकता है। रुके हुये पानी में इन बैक्टेरिया की संख्या बहुत अधिक होती है। ट्यूब-वैल के पानी में सबसे कम बैक्टेरिया होने की संभावना होती है यदि उसके स्रोत में जमीन से किसी गंदे पानी का रिसाव (सीपेज़) न हो तो। तथापि उबला हुआ पानी पीना ही सबसे अच्छा होता है क्योंकि इसमें बैक्टेरिया नहीं होते हैं।

5.3 दही कैसे बनता है?

नया दही बनाने के लिए पुराने दही के थोड़े से जामन को हल्के गर्म दूध में डाल

दिया जाता है। तीन-चार घण्टे में नया दही तैयार हो जाता है। आज हम सभी जानते हैं कि विज्ञान के अनुसार दही में अनेक प्रकार के सूक्ष्म-जीव होते हैं जिनमें लैक्टोबेसीलस तथा स्टैफीलोकोकस नामक बैक्टेरिया प्रमुख हैं। कुछ प्रकार के यीस्ट भी इसमें पाये जाते हैं। एक मिली-लीटर दही में लगभग 20 करोड़ बैक्टेरिया पाये जाते हैं। लैक्टोबेसीलस नामक बैक्टेरिया दूध से दही बनाने में अहम् भूमिका निभाता है। जब इन सूक्ष्म जीवों (लैक्टोबेसीलस) को गुनगुने (लगभग 37 °C) ताप के दूध में मिलाया जाता है तो ये बैक्टेरिया बहुत तेजी से बढ़ने लगते हैं। अपनी इस वंश वृद्धि के दौरान ये दूध के बसा रहित तत्त्व को ग्रहण कर लेते हैं तथा दूसरा गाड़ा पदार्थ पैदा करते हैं जिसे हम दही कहते हैं जब एक बार दही बन जाता है तो इसे ठण्डे स्थान पर रख दिया जाता है जिससे इन बैक्टेरिया की और अधिक वृद्धि न हो; इनकी अधिक वृद्धि होने से दही और अधिक खट्टा हो जाता है तथा खाने योग्य नहीं रहता है। यदि अधिक गर्म दूध में जामन डाल दिया जाय तो दही नहीं बनता है क्योंकि अधिक ताप पर वे बैक्टेरिया मर जाते हैं। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि दही बैक्टेरिया की मौजूदगी में ही बनता है। यदि ताजा दही है तब भी इसमें बैक्टेरिया रहते हैं। बिना जामन के चांदी के सिक्के, नारियल या बादाम के छिलके जो दही में डालकर निकाल लिए जाते हैं उनसे भी दही जमाया जाता है। ऐसी स्थिति में दूध हवा में उपस्थित बैक्टेरिया को ग्रहण कर लेता है तथा फिर दही उनकी मदद से जमता है। इस तरह जमे दही में भी बैक्टेरिया होते ही हैं। जैनागम में कहे अनुसार जामन से बनाए गए दही को त्यागी व्रती ग्रहण नहीं करते। दही जमाने के लिए नारियल के छिलके आदि का प्रयोग मान्य है।

5.4 खाद्य पदार्थों का रक्षण

हम सभी जानते हैं कि यदि खाद्य पदार्थ बहुत पुराने हो जायें तो वे खराब होने लगते हैं तथा उनमें से कुछ अलग प्रकार की गंध आने लगती है। वस्तुतः कुछ सूक्ष्म-जीव होते हैं जो खाने को खराब कर देते हैं तथा खाने के अणुओं को गंध युक्त एंजाइम्स में बदल देते हैं। इससे खाना न सिर्फ देखने में खराब लगता है, बल्कि खाने में भी खराब लगता है तथा बीमारी भी पैदा कर सकता है।

खाद्य पदार्थों को यदि इन सूक्ष्म जीवों से बचा कर रखा जाय तो ये पदार्थ जल्दी खराब नहीं होते हैं। इनका संरक्षण (preservation) कई प्रकार से किया जाता है। खाद्य पदार्थों को पकाकर रखना इनके संरक्षण का एक बहुत ही सामान्य तरीका है। इस पके खाद्य पदार्थ को यदि किसी ठण्डे स्थान, जैसे –फ्रिज आदि में रख दिया जाय तो इसे और अधिक लम्बे समय तक सुरक्षित बनाये रखा जा सकता है। पकाने पर सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति रुक जाती है तथा ठंडे स्थान पर

रखने पर इनकी वृद्धि जल्दी से नहीं होती है।

खाद्य पदार्थों को अधिक तेल में डुबोकर रखने से भी इन्हें खराब होने से बचाया जा सकता है। अचार आदि को इसी प्रकार से सुरक्षित रखा जाता है। गेहूँ को सुरक्षित बनाये रखने के लिए भी तेल का प्रयोग करा जाता है। ऐसा करने से हवा में उपस्थित बैक्टेरिया आदि सूक्ष्म-जीव खाद्य पदार्थ के सम्पर्क में नहीं आ पाते हैं, तथा वह सुरक्षित रहा आता है। गेहूँ को नीम आदि की पत्तियों के साथ रखने से भी सुरक्षित रखा जा सकता है। नीम के पत्तों की उपस्थिति भी इन सूक्ष्म-जीवों की वहाँ वृद्धि नहीं होने देती हैं।

बन्द डिब्बों में सामान को रखने से भी इन्हें अधिक समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है। बन्द डिब्बे में सूक्ष्म जीवों का सम्पर्क खाद्य पदार्थों से नहीं हो पाता है। सूखी मेवा, मसाले, दूध आदि को बन्द पैकेट में इसीलिए रखा जाता है। खेती के बीजों को भी बन्द डिब्बों में रखा जाता है। वस्तुतः बन्द डिब्बे सूक्ष्म-जीवों की उपस्थिति को पूर्ण रूप से समाप्त तो नहीं कर पाते हैं, लेकिन वे उनकी वृद्धि को अवश्य ही सीमित कर देते हैं। बन्द्र डिब्बों में भी थोड़ी-बहुत आक्सीजन तो होती है ही। वह सूक्ष्म जीवों को जीवित बनाये रखती है, यदि सूक्ष्म-जीव जीवित नहीं रहते तो भी कम से कम वहाँ सूक्ष्म जीवों के स्पोर तो पैदा हो ही जाते हैं। अतः समय-समय पर इन डिब्बों को भी खाली करके साफ कर लेना चाहिए।

खाद्य-पदार्थ को सुरक्षित बनाये रखने के लिए कुछ प्रिजर्वेटिव (रसायन) भी प्रयोग में लाये जाते हैं। इनकी उपस्थिति सूक्ष्म-जीवों की वृद्धि को रोकती है। खाद्य अम्ल तथा नमक बहुत ही प्रचलित प्रिजर्वेटिव्स हैं। अम्ल उन एन्जाइम को निष्क्रिय बना देते हैं जो खाद्य-पदार्थ को खराब कर देते हैं तथा नमक खाद्य पदार्थों में उपस्थित नमी का अवशोषण कर लेता है। इसीलिए मुरब्बे तथा शीत-पेय बनाने में कुछ अम्लों, जैसे—सोडियम बैंजोनेट या सोडियम मेटा सल्फेट को मिला दिया जाता है तथा पिसे हुए मसालों में नमक मिला दिया जाता है। और अधिक बचाव करने के लिए इन्हें रेफ्रीजरेटर्स में रख दिया जाता है।

सूक्ष्म-जीव न सिर्फ खाद्य-पदार्थों को खराब करते हैं, बल्कि अखाद्य-पदार्थों को भी नुकसान पहुंचाते हैं। उदाहरण के तौर पर बरसात के दिनों में किताबें तथा गर्म कपड़े खराब हो जाते हैं। इसीलिए आमतौर पर इन्हें धूप में रख दिया जाता है।

5.5 दूध का पास्चीकरण

प्रायः जो दूध बड़े शहरों में वितरित किया जाता है उसे पहले पास्चीकृत कर लिया जाता है। ऐसा करने से दूध अधिक समय तक सुरक्षित बना रहता है। पास्चीकरण की प्रक्रिया में पहले दूध को लगभग 15 सैकेण्ड तक 70°C ताप पर गर्म किया (उबाला) जाता है तथा उसके तुरन्त बाद ही उसे बहुत अधिक ठण्डा कर दिया

जाता है। दूध को उबालने से उसमें मौजूद बैक्टेरिया नष्ट हो जाते हैं तथा शीघ्र ही ठण्डा कर देने से नये बैक्टेरिया पैदा नहीं हो पाते हैं। सामान्यतः डेरियों में मात्र उस दूध का ही पास्चीकरण करा जाता है जिसमें बैक्टेरिया की संख्या 250 पी. पी. एम. (पार्ट्स पर मिलियन) हो। यदि दूध में इससे अधिक बैक्टेरिया हों तो उसे उपयोग में नहीं लिया जाता है। दूध को सुरक्षित बनाये रखने के लिए डेरियों को बिल्कुल स्वच्छ रखा जाता है जिससे किसी भी प्रकार के फूड-पॉयजनिंग की संभावना से बचा जा सके। जैनधर्म के अनुसार यदि दूध को 48 मिनट के अन्दर गर्म न किया जाय तो उसमें अनन्त सम्मूर्च्छन जीव पैदा हो जाते हैं। यदि दूध को तुरन्त ही गर्म कर दिया जाय तो उन जीवों को पैदा होने से रोका जा सकता है।

संदर्भ-ग्रन्थ

(1) "शान्ति पथ प्रदर्शन" क्षु. जिनेन्द्र वर्णी।
(2) "Scientific Contents in Prakrit Canons" by Dr. N.L Jain
(3) "Jain biology" by Dr. S.C. Sikdhar
(4) "आस्था और अन्वेषण", संपादक-सुरेश जैन (विशेष दृष्टव्य –डॉ. अशोक कुमार जैन का लेख)

कोशिका, वायरस तथा निगोदिया जीव

1 प्रस्तावना

विश्व में पेड़-पौधों तथा पशुओं की पन्द्रह लाख से अधिक प्रजातियाँ पायी जाती हैं। ये सभी प्रजातियाँ अलग-अलग शक्ल-सूरत तथा आकार में मिलती हैं। लेकिन इन सब में एक बात समान होती है कि इनमें से प्रत्येक एक या उससे अधिक कोशिकाओं से मिलकर बनी होती हैं। प्रत्येक कोशिका भी स्वयं में एक जीव होती हैं।

वायरस भी सूक्ष्म जीव होते हैं लेकिन ये अन्य जीवों से भिन्न होते हैं। उनकी स्वयं की कोई कोशिका नहीं होती है बल्कि कोशिका का एक हिस्सा मात्र ही होता है जबकि अन्य जीवों में एक या एक से अधिक कोशिकायें पायी जाती हैं।

जैनदर्शन में जीवों के बारे में विशद् वर्णन मिलता है। जीवों को मुख्यतः दो वर्गों (त्रस और स्थावर) में विभक्त किया गया है। स्थावर के भी पांच भेद होते हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति। सबसे सूक्ष्म जीव निगोदिया होते हैं जिन्हें वनस्पति की श्रेणी में रखा गया है। सभी जीवों के लक्षण भी दिये गये हैं। प्रश्न यह है कि कोशिका और वायरस को हम किस वर्ग में रखें? क्या इन्हें निगोदिया जीवों की श्रेणी में रखा जा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए पहले हमें कोशिकाओं, वायरस तथा निगोदिया जीवों के बारे में जानना होगा तथा उनके लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात ही किसी निर्णय पर पहुँचना होगा।

2 कोशिका

कोशिका (Cell) जीवन की मूल इकाई है। सभी जीवित प्राणी, चाहे वे सूक्ष्म हों या विशालकाय, वृक्ष हों या पशु, कोशिकाओं से मिलकर बने होते हैं। सूक्ष्म-जीव (micro-organism) एक-कोशिय होते हैं तथा अन्य पशु और वृक्ष बहु-कोशिय होते हैं। मनुष्य भी बहुकोशिय प्राणी हैं; वयस्क मनुष्य के शरीर में लगभग सौ खरब कोशिकायें होती हैं। ये कोशिकायें बहुत सूक्ष्म होती हैं जिन्हें माइक्रोस्कोप (सूक्ष्मदर्शी) द्वारा ही देखा जा सकता है।

प्रत्येक कोशिका अपने-आप में एक स्वतन्त्र जीवित प्राणी है। यह उसी प्रकार से एक जीव हैं जिस प्रकार से आप और हम। ये सांस लेती हैं, भोजन करती है तथा अवांछनीय मल को शरीर से बाहर भी निकालती हैं। ये अपने जैसे जीवों को पैदा भी करती हैं तथा मृत्यु को भी प्राप्त होती हैं।

कई एक जैसी कोशिकायें मिलकर ऊतक (tissue) बनाती हैं। ऊतक मिल कर अंग-प्रत्यंग (Organs) बनाते हैं। अंग-प्रत्यंग मिलकर अंग-तंत्र (organ System) बनाते हैं और सभी अंग-तंत्र मिलकर शरीर बनाते हैं।

2.1 कोशिकाओं का आकार तथा अवगाहना

कोशिकायें कई आकार में पायी जाती हैं। कुछ घनाकार, कुछ छल्ले की तरह, कुछ छड़ की तरह, कुछ चौकोर आदि होती हैं। बहुत से एक-कोशिय प्राणी गेंद की तरह गोल होते हैं। अधिकतर बहुकोशिय प्राणियों की कोशिकायें घनाकार या आयताकार होती हैं। वस्तुतः बहुकोशिय प्राणी के शरीर में कई प्रकार की कोशिकायें पायी जाती हैं। इन कोशिकाओं का आकार आवश्यकतानुसार होता है।

कोशिकाओं की अवगाहना या माप में भी बहुत विविधता पायी जाती है। अधिकतर कोशिकायें 0.0025 से.मी. साइज की होती हैं। एक सूई की नोंक पर लगभग 500 सामान्य कोशिकायें एक साथ आ सकती हैं। सबसे छोटी कोशिका बैक्टेरिया की होती हैं। यदि इनकी पचास हजार कोशिकाओं को एक पंक्ति में सटाकर रख दिया जाय तो उस पंक्ति की लम्बाई मात्र 2.5 से.मी ही होगी। सबसे बड़ी कोशिका शुतुरमुर्ग के अण्डे में होती है जिसका साइज लगभग एक टेनिस की गेंद के बराबर होता है।

बहुकोशिय पशु या वृक्ष का साइज उनमें स्थित कोशिकाओं की संख्या पर निर्भर करता है, उनके साइज पर नहीं। एक हाथी की तुलना एक चूहे से करें तो निश्चित तौर पर हाथी के शरीर में स्थित कोशिकाओं की संख्या चूहे के शरीर में स्थित कोशिकाओं की संख्या से काफी अधिक होती हैं जबकि इन दोनों की कोशिकाओं के साइज में बहुत अन्तर नहीं होता है।

2.2 कोशिका की आन्तरिक संरचना

कोशिका के मुख्य दो हिस्से होते हैं—नाभिक (nucleus) या केन्द्रक तथा साइटोप्लाज्म। कोशिका के बाहर कोशिका-झिल्ली (Cell membrane) होती हैं। यही झिल्ली एक कोशिका को अन्य कोशिकाओं से अलग करती हैं।

कोशिका का केन्द्रक वस्तुतः एक नियन्त्रक केन्द्र होता है तथा वही यह सूचना भी प्रेषित करता है कि अमुक कोशिका को क्या करना है। इस केन्द्रक पर

भी एक झिल्ली होती है जिसे न्यूक्लीयर मैम्ब्रेन (nuclear membrane) कहते हैं। कोशिका के केन्द्रक में गुणसूत्र (Cromosomes) होते हैं जो घुमावदार सीढ़ी की तरह होते हैं। ये गुणसूत्र डी. एन. ए. तथा आर. एन. ए. नामक प्रोटीनों से बने होते हैं। डी. एन. ए. पर बहुत सारे जीन (gene) होते है। ये जीन ही सारी सूचनायें प्रेषित करते हैं कि कोशिका को आगे क्या करना है।

केन्द्रक तथा कोशिका-झिल्ली के मध्य भाग को साइटोप्लाज्म कहते हैं तथा केन्द्रक-झिल्ली और कोशिका झिल्ली के मध्य जो रसायन होता है उसे प्रोटोप्लाज्म कहते हैं। साइटोप्लाज्म एक तरह की केन्द्रक विहीन कोशिका है।

पेड़-पौधों की कोशिकाओं तथा पशुओं की कोशिकाओं के कुछ रसायनों में अन्तर होता है। पेड़-पौधों में क्लोरोप्लास्ट्म होता है।

2.3 कोशिका विभाजन

प्रत्येक प्राणी एक या अधिक कोशिकाओं से बना होता है। प्रत्येक कोशिका पहले से मौजूद कोशिका द्वारा पैदा होती है। नयी कोशिकायें कोशिका-विभाजन द्वारा बनती हैं जिसमें पहले से मौजूद एक कोशिका की दो कोशिकायें बन जाती हैं। ये नयी कोशिकायें वृद्धि को प्राप्त होकर पुनः विभाजित होती हैं और अपनी संख्या में वृद्धि करती रहती हैं। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। एक कोशिय प्राणी अपने जीवन का प्रारम्भ एक कोशिका से ही करते हैं तथा उसके साथ ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं जबकि बहुकोशिय प्राणियों के जीवन का प्रारम्भ होता तो एक कोशिका से ही है लेकिन बाद में ये कोशिका विभाजन द्वारा वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा बहुकोशिय बन जाते हैं। बहुकोशिय प्राणियों में इस वृद्धि क्रम के दौरान ही कुछ कोशिकायें विशिष्टता प्राप्त कर लेती हैं तथा अपनी मूल कोशिका से कुछ अलग प्रकार के गुण प्राप्त करने लगती हैं। ये विशिष्टता प्राप्त कोशिकायें ही ऊतक तथा अंग-प्रत्यंगों का निर्माण करती हैं तथा एक प्राणी से दूसरे प्राणी में भिन्नता लाती हैं।

कोशिका विभाजन दो प्रकार का होता है—मिटोसिस (Mitosis) तथा मीयोसिस (Meiosis)। अधिकतर कोशिकायें मिटोसिस प्रक्रिया द्वारा पैदा होती हैं। इसमें एक कोशिका विभाजन द्वारा अपने जैसी ही दो कोशिकाओं को जन्म देती हैं। ये नवजात कोशिकायें अपने आकार को बढ़ा कर लेती हैं तथा उसी प्रकार पुनः द्वि-विभाजित हो जाती हैं। इस प्रकार कोशिकाओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि की सम्भावना बनी रहती है। हमारे शरीर में स्थित पुरानी कोशिकायें नष्ट होती रहती हैं तथा उक्त प्रक्रिया द्वारा नयी कोशिकायें पैदा होती रहती हैं। अन्य पशुओं तथा वृक्षों में इसी प्रकार का विभाजन प्रायः देखने को मिलता है।

मनुष्य तथा अनेक अन्य प्राणी योनिज (sexually) तरीके से पैदा होते हैं।

एक नया जीव पैदा होने के लिए दो सेक्स कोशिकाओं (sex cells) की आवश्यकता होती हैं–एक नर का शुक्राणु (sperm) तथा दूसरा मादा का अण्डाणु या डिम्ब (egg)। ये दोनों मिलकर एक नयी कोशिका को जन्म देते हैं। जिसमें नर तथा मादा दोनों के गुण निहित होते हैं। सेक्स कोशिकायें कुछ विशिष्ट प्रजनन ग्रंथियों (sex glands)से पैदा होती हैं। सेक्स कोशिकाओं का उत्पादन मिटोसिस द्वारा ही होता है, लेकिन नर तथा मादा की सेक्स-कोशिकायें (शुक्राणु तथा डिम्ब) के आपस में मिल ज़ाने (fusion) के पश्चात् जो नयी कोशिका बनती है उसकी वृद्धि प्रारम्भ में एक अलग पद्धति द्वारा होती है जिसे मियोसिस कहते हैं। यहाँ एक विशेष बात यह ध्यान देने योग्य है कि शुक्राणु तथा अण्डाणु विभाजित नहीं होते हैं इसीलिए इन्हें परिपक्व कोशिका (matured cells) कहा जाता है।

2.4 बैक्टेरिया की कोशिकायें

बैक्टेरिया एक कोशिय जीव होते हैं। एक अलग आलेख 'जैन दर्शन में सूक्ष्म-जीवों की स्थिति' में यह सिद्ध करा जा चुका है कि ये एक इन्द्रिय स्थावर जीव होते हैं। इनमें से जो बैक्टेरिया जल में रह पाते हैं वे जलकायिक, जो जमीन में रह जाते हैं वे पृथ्वीकायिक, जो हवा में पाये जाते हैं वे वायुकायिक आदि होते हैं या हो सकते हैं, इनकी कोशिकाओं में तथा अन्य बहुकोशिय प्राणियों की कोशिकाओं में थोड़ा अन्तर होता है। बैक्टेरिया की कोशिकायें स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकती हैं जबकि बहुकोशिय प्राणियों की कोशिकायें उस बहुकोशिय जीव के आश्रित होती है।

2.5 कुछ विशेष उल्लेखनीय बिन्दु

हम जिस विषय पर आगे चर्चा करेंगे उसके लिए कोशिकाओं से सम्बन्धित उपर्युक्त जानकारी पर्याप्त होगी। अब तक की चर्चा में जो विशेष बातें सामने निकल कर आयी हैं वे निम्न प्रकार हैं–

(1) प्रत्येक प्राणी का शरीर एक या एक से अधिक कोशिकाओं से निर्मित होता है।
(2) प्रत्येक कोशिका स्वयं में एक जीवित प्राणी होती है चाहें वह बहुकोशिय प्राणी की कोशिका ही क्यों न हो। यह भी उसी प्रकार एक जीव हैं जैसे कि आप और हम।
(3) कोशिकाओं के आकार एवं अवगाहना (माप) में विविधता पायी जाती हैं।
(4) प्रत्येक कोशिका में असंख्यात कोशिकायें बनाने की संभावना रहती हैं।

क्योंकि एक से दो, दो से चार इस प्रकार निरन्तर इनकी संख्या में वृद्धि होती रहती है।

(5) मानव शरीर में लगभग सौ खरब कोशिकायें होती हैं।

(6) बहुकोशिय जीव की कोशिकाओं का भरण-पोषण इस जीव द्वारा ग्रहण किये गये भोजन द्वारा होता है, यानि कि इनकी कोशिकायें उस जीव पर ही आश्रित होती हैं।

(7) बैक्टेरिया जो कि एक कोशिय प्राणी होते हैं, की कोशिका एक स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकती हैं इन्हें अन्य जीवों पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं होती है।

(8) बहुकोशिय जीव के शरीर के निर्माण में कोशिकाओं का ही योगदान रहता है। अनेकों कोशिकायें मिलकर ऊतक बनाते हैं, ऊतक मिलकर अंग-प्रत्यंग, अंग-प्रत्यंग मिलकर अंग-तन्त्र तथा अंग-तन्त्र से शरीर का निर्माण होता है।

(9) यदि बहुकोशिय जीव की किसी एक कोशिका को उसके शरीर से अलग कर दिया जाय तथा उसे अनुकूल वातावरण मिले तो वह कोशिका स्वतन्त्र जीवन यापन कर सकती है।

(10) सेक्स कोशिकायें परिपक्व (matured) होती हैं; यानि की इनकी कोशिका-विभाजन द्वारा वृद्धि नहीं होती है।

3 वायरस

वायरस (Virus) एक अति सूक्ष्म प्राणी होता है, उसे विषाणु भी कहते हैं। इसका आकार बैक्टेरिया से भी बहुत छोटा होता है। यह अलग-अलग आकार में पाया जाता है, जैसे–छड़ के आकार का या गोलाकार तथा इसकी अवगाहना (size) 0.01 से 0.3 माइक्रोन (1 माइक्रोन - 0.001 मि. मी) तक होता है। इसे सामान्य सूक्ष्मदर्शी द्वारा नहीं देखा जा सकता है मात्र इलैक्ट्रोन माइक्रोस्कोप द्वारा देखा जा सकता है। यह बालू-मिट्टी की बहुत मोटी परत में से भी पार हो जाता है।

वायरस में जो सबसे महत्वपूर्ण बात होती है वह यह कि इसकी स्वयं की कोई कोशिका नहीं होती है। यह अन्य प्राणियों की कोशिकाओं में घुस जाता है तथा वहीं अपनी वंश-वृद्धि करता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कोशिका जीवन की न्यूनतम इकाई होती है तथा प्रत्येक कोशिका के केन्द्रक में डी. एन. ए. तथा आर. एन. ए. होते हैं। लेकिन वायरस की स्वयं की कोई कोशिका नहीं होती है; इसके शरीर में मात्र डी. एन. ए. या आर. एन. ए. का कोई हिस्सा होता है। यानि कि इसका शरीर पूर्ण कोशिका युक्त नहीं होता है बल्कि कोशिका का एक हिस्सा मात्र ही होता है। कुछ वायरस में जीव भी पाये जाते हैं जो कि वंशानुक्रम

को जारी रखते हैं। वायरस भी कई प्रकार के होते हैं।

वायरस को स्वयं को जीवित रखने तथा अपनी वंश वृद्धि करने के लिए किसी अन्य जीव की कोशिका में प्रवेश करना पड़ता है। जब ये किसी में प्रवेश करते हैं तो उसके अन्दर सैंकड़ों/हजारों की तादात में पैदा हो जाते हैं तथा कोशिका को नष्ट करके उसके बाहर निकल आते हैं।

आज वायरस से भी सूक्ष्म जीवों को खोजा जा चुका है जिन्हें सब-वायरस (sub-virus) कहते हैं। इस बात से भी इन्कार नहीं करा जा सकता है कि सब-वायरस से सूक्ष्म भी ऐसे जीव हो सकते हैं जिन्हें इलैक्ट्रोन-माइक्रोस्कोप द्वारा भी नहीं देखा जा सकता है तथा जो अभेद चट्टानों को भी भेदने की क्षमता रखते हों। चूँकि वायरस तथा सब-वायरसों की स्वयं की कोई कोशिका तो होती नहीं है, कोशिका का एक हिस्सा मात्र ही होता है, अतः इन्हें जीव तथा अजीव के मध्य की श्रेणी में रखा गया है। हाँलाकि कुछ वैज्ञानिक पूर्ण कोशिका के अभाव से इसे निर्जीव की श्रेणी में रखते हैं, लेकिन अधिकतर उन्हें सजीव ही मानते हैं क्योंकि पूर्ण कोशिका न सही उसका कुछ हिस्सा तो उनमें होता ही है, साथ ही ये अपनी वंश वृद्धि भी करते हैं।

वायरस के उपर्युक्त विवरण में से जो महत्वपूर्ण बिन्दु सामने आते हैं वे निम्न प्रकार हैं–

(1) वायरस एक आधे-अधूरे शरीर वाले जीव होते हैं क्योंकि इनकी स्वयं की कोई पूर्ण विकसित कोशिका नहीं होती है, कोशिका का एक हिस्सा मात्र होता है।
(2) जिन कोशिकाओं में से वायरस अपनी वंश-वृद्धि करते हैं उन कोशिकाओं को स्वयं नष्ट कर देते हैं।
(3) वायरस कोशिका में प्रवेश करने के तुरन्त बाद ही बहुत तीव्र गति से अपनी वंशवृद्धि करते हैं।
(4) इनका जीवनकाल अपेक्षाकृत बहुत कम होता है।
(5) ये अलग-अलग आकार एवं साइज में पाये जाते हैं।
(6) इनसे सूक्ष्म जीवों की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

4 निगोदिया जीव

जैनदर्शन में जीवों का वर्गीकरण इन्द्रियों के आधार पर किया गया है। वनस्पति को एक इन्द्रिय जीव माना गया है क्योंकि इसमें मात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती हैं, अन्य रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र इन्द्रियाँ नहीं होती हैं। वनस्पति दो प्रकार की होती हैं–प्रत्येक तथा साधारण। स्वतन्त्र शरीर वाली वनस्पति प्रत्येक तथा अनन्त जीवों के सांझा शरीर के युक्त वनस्पति साधारण कहलाती है। साधारण शरीर में अनन्त जीवों का जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास आदि साधारण रूप से अर्थात् एक

साथ समान रूप से होता है। एक ही शरीर में अनन्त जीव बसते हैं। इसीलिए इस शरीर को निगोद कहते हैं; उपचार से इसमें बसने वाले जीवों को भी निगोद या निगोदिया जीव कहते हैं।

साधारण नामकर्म के उदय से जीव निगोद शरीरी होता है। निगोद दो प्रकार का होता है—नित्य निगोद तथा इतर या अनित्य या चतुर्गति निगोद। जो जीव अनादि काल में आज तक निगोद पर्याय से निकला ही नहीं वह नित्य निगोद है और त्रस, स्थावर आदि अन्य पर्यायों में घूमकर जो जीव पापोदय वश पुनः पुनः निगोद को प्राप्त होता है वह इतर निगोद है।

4.1 पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक निगोद

प्रत्येक शरीर जीव बादर अर्थात् स्थूल ही होते हैं जबकि साधारण शरीर जीव बादर तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म साधारण शरीर लोक में ठसाठस भरे हुए हैं। लेकिन सूक्ष्म होने के कारण वे हमारी इन्द्रियों द्वारा जानने में नहीं आ सकते। प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक तथा साधारण शरीर बादर वनस्पति-कायिक जीव पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों प्रकार के होते हैं. जबकि साधारण शरीर सूक्ष्म वनस्पतिकायिक मात्र अपर्याप्तक ही होते हैं। जो जीव अपने शरीर की संरचना पूर्ण कर लेते हैं वे पर्याप्तक कहलाते हैं तथा जो जीव अपने शरीर की संरचना पूर्ण करने से पहले ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं वे अपर्याप्तक कहलाते हैं।

4.2 सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक

नित्य खाने में काम आने वाली प्रत्येक शरीर वनस्पति दो प्रकार की होती है—अप्रतिष्ठित-प्रत्येक तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक। साधारण जीवों से रहित वनस्पति अप्रतिष्ठित है और असंख्यात साधारण जीवों से युक्त वनस्पति सप्रतिष्ठित है। अतः सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के स्कन्ध में एकमेक होकर असंख्यात, साधारण शरीर होते हैं और एक-एक साधारण शरीर में अनन्तातन्त निगोद जीव वास करते हैं। इस प्रकार बादर निगोद जीवों के अयोनिभूत प्रत्येक शरीर वाले जीव अप्रतिष्ठित कहलाते हैं। सप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों का शरीर साधारण शरीरों के द्वारा आश्रित किया गया होता है तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों का शरीर साधारण शरीरों द्वारा आश्रित नहीं किया गया होता है।

4.3 साधारण जीवों का लक्षण

साधारण जीवों के साधारण आहार आदि चार पर्याप्तियाँ तथा साधारण ही जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास, अनुग्रह और उपघात आदि होते हैं। जब एक के आहार, इन्द्रिय और आनपान पर्याप्ति होती है, उसी समय अनन्त जीवों के भी होती है।

साधारण आहार और साधारण उच्छ्वास -निःश्वास का ग्रहण यह साधारण-जीवों का साधारण-लक्षण कहा गया है। एक जीव का जो अनुग्रहण अर्थात् उपकार है वह बहुत से साधारण जीवों का है और इसका भी है। तथा बहुत जीवों का जो अनुग्रहण है वह मिलकर इस विवक्षित जीव का भी है। एक साथ उत्पन्न होने वाले जीवों की निष्पत्ति एक साथ होती है, एक साथ अनुग्रहण होता है और एक साथ ही उच्छ्वास-निःश्वास होता है। जिस शरीर में एक जीव मरता है वहाँ अनन्त जीवों का मरण होता है और जिस शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है।

4.4 प्रत्येक व साधारण वनस्पतियों का सामान्य परिचय

किसी वनस्पति का यह पता लगाना कठिन होता है कि वह प्रत्येक है या साधारण क्योंकि किसी वृक्ष की जड़ साधारण होती है तो किसी का स्कन्ध। किसी की शाखाएँ साधारण होती हैं तो किसी के पर्व (गांठ) का दूध। अथवा किसी के फल साधारण होते हैं। इनमें से किसी के मूल, पत्ते, स्कन्ध, फूल, फल आदि अलग-अलग साधारण होते हैं और किसी के मिले हुए पूर्ण रूप से साधारण होते हैं। मूली, अदरक, आलू, अरबी, रत्तालू, जमीकन्द आदि सब मूल (जड़े) साधारण हैं। गण्डरीक (एक कड़वा जमीकन्द) के स्कन्ध, पत्ते, दूध और पर्व ये चारों ही अवयव साधारण होते हैं। दूधों में आक का दूध साधारण होता है। फूलों में करीर के या सरसों के फूल, और भी ऐसे ही फूल साधारण होते हैं। तथा पर्वों में ईख की गाँठ और उसके आगे का भाग साधारण होता है। पाँचों उदम्बर फल तथा कुमारी पिण्ड (गँवारपाठा जो कि शाखा रूप ही होता है) की सब शाखाएँ साधारण होती हैं। वृक्षों पर लगी कोपलें सब साधारण हैं, पीछे पकने पर प्रत्येक हो जाती हैं। शाकों में चना, मैंथी, बथुआ, पालक, कुलफा आदि कोई साधारण तथा कोई प्रत्येक होती हैं। इसी प्रकार बेलों में कोई लताएँ साधारण और कोई प्रत्येक होती हैं। साधारण और प्रत्येक का लक्षण इस प्रकार लिखा गया है कि जिसके तोड़ने पर दोनों भाग एक से हो जायें, यानि कि जिस प्रकार चाकू से दो टुकड़े करने पर दोनों भाग चिकने और एक जैसे हो जाते हैं उसी प्रकार हाथ से तोड़ने पर भी जिसके दोनों भाग चिकने एक जैसे हो जायें वह साधारण वनस्पति है। जब तक उनके टुकड़े इसी प्रकार होते रहते हैं तब तक उसे साधारण समझना चाहिए। जिसके टुकड़े एक जैसे और चिकने न हों ऐसी बाकी की समस्त वनस्पतियों को प्रत्येक समझना चाहिए।

4.5 निगोदिया का आकार, अवगाहना तथा आयुष्य

प्रथम व द्वितीय समयवर्ती तद्भवस्थ सूक्ष्म निगोदिया का आकार आयात चतुरस्र

होता है और तृतीय समयवर्ती तद् भवस्थ सूक्ष्म निगोद का आकार गोल होता है।

स्थावर जीवों में अवगाहना क्रमशः इस प्रकार बढ़ती है—सूक्ष्म निगोदिया, सूक्ष्म वायुकायिक, सूक्ष्म अग्निकायिक, सूक्ष्म जलकायिक, सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, बादर वायुकायिक, बादर अग्निकायिक, बादर जलकायिक, बादर पृथ्वी कायिक, बादर निगोदिया, प्रतिष्ठित प्रत्येक, अप्रतिष्ठित प्रत्येक! इस प्रकार अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों की अवगाहना प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों से अधिक होती है। प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यात भाग मात्र ही होती है।

एक निगोद शरीर में अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ मरते हैं और निगोद शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है। निगोद शरीर की उत्कृष्ट स्थिति (आयुष्य) असंख्यात कोड़ा-कोड़ी सागर है। जब तक यह स्थिति भावतः पूर्ण नहीं होती, तब तक जीवों का मरना व उत्पन्न होना होता रहता है।

4.6 प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति स्कन्ध में अनन्त जीवों के शरीर की रचना

प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति में निगोद जीव किस प्रकार पाये जाते हैं इसका वर्णन पुलवियों के आधार पर किया गया है। पुलवियों का स्वरूप निम्न प्रकार से किया गया है—

(1) स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और निगोद शरीर ये पाँच स्थान निगोदिया के होते हैं। इनमें से जो बादर निगोदों का आश्रयभूत है, बहुत वक्खारों से युक्त है तथा बलंजंतवाणिय कच्छउड समान है ऐसे मूली, थूअर आर्द्रक आदि संज्ञा को धारण करने वाला स्कन्ध कहलाता है।

(2) जो उन स्कन्धों के अवयव हैं और जो बलंजन्त कच्छउड के पूर्वापर भाग के समान हैं उन्हें अण्डर कहते हैं।

(3) जो अण्डर के भीतर स्थित हैं और जो कच्छउडअण्डर के भीतर स्थित वक्खार के समान हैं उन्हें आवास कहते हैं। अण्डर असंख्यात लोक प्रमाण है तथा एक अण्डर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास होते हैं।

(4) जो आवास के भीतर स्थित है और जो कच्छउडअण्डर वक्खार के भीतर स्थित पिशवियों के समान हैं उन्हें पुलवि कहते हैं। एक-एक आवास में वे असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं। तथा एक-एक आवास की अलग-अलग एक-एक पुलवि में असंख्यात लोक प्रमाण निगोद शरीर होते हैं जो कि औदारिक, तैजस और कार्माण पुद्गलों के उपादान कारण होते हैं और जो कच्छउडअण्डर बक्खार पुलवि के भीतर स्थित द्रव्यों के समान अलग-अलग अनन्तानन्त निगोद जीवों से आपूर्ण होते हैं।

(5) अथवा तीन लोक, भरत, जनपद, ग्राम और पुर के समान स्कन्ध, अण्डर,

आवास, पुलिव और शरीर होते हैं ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

4.7 निगोद की योनियाँ

वैसे तो निगोद जीव लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं, फिर भी पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, देव, नारकी, आहारक-शरीरी, प्रमत्त-संयत सयोग केवली और अयोग केवली ये जीव प्रत्येक शरीर वाले होते हैं क्योंकि इनका निगोद जीवों से सम्बन्ध नहीं होता है। अतः इन्हें छोड़कर नित्य निगोद साधारण वनस्पति की सात लाख योनि तथा इतर निगोद साधारण वनस्पति की भी सात लाख योनियाँ होती हैं। प्रत्येक वनस्पति की दस लाख योनियाँ होती हैं।

4.8 निगोद के सम्बन्ध में कुछ विशेष बिन्दु

निगोद के सम्बन्ध में अब तक जो चर्चा की उसमें से कुछ बिन्दु उल्लेखनीय हैं। उन्हें नीचे दिया जा रहा है–

(1) यदि एक शरीर में एक जीव या आत्मा वास करती है तो उसे प्रत्येक शरीर कहते हैं। यदि एक ही शरीर बहुत से जीवों का शरीर हो तो वह साधारण शरीर कहलाता है और उसमें जो जीव निवास करते हैं वे साधारण शरीर जीव कहलाते हैं।

(2) तृण, बेलि, छोटे वृक्ष, बड़े वृक्ष, कन्दमूल ऐसे पांच भेद प्रत्येक वनस्पति के हैं। ये पांचों वनस्पतियाँ जब निगोद शरीर के आश्रित हों तो प्रतिष्ठित प्रत्येक कही जाती है तथा निगोद से रहित हों तो अप्रतिष्ठित प्रत्येक कही जाती हैं। प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति में पाये जाने वाले अनन्त शरीर ही साधारण होते हैं।

(3) सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव निगोद हों यह कोई आवश्यक नहीं है, लेकिन निगोद जीव वनस्पतिकायिक होते हैं यह सही है।

(4) वनस्पतिकायिक जीव स्वयं एक जीव है, वह स्वयं प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित नहीं है। उसका शरीर सप्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित होता है। यानि की वनस्पति सप्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित होती हैं, वनस्पतिकायिक जीव नहीं।

(5) सभी प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति प्रथम अवस्था में जन्म के समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त नियम से अप्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं। पीछे निगोद जीवों के द्वारा आश्रित किये जाने पर ये प्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं।

(6) योनिभूत बीज में वही जीव भी उत्पन्न हो सकता है और अन्य जीव भी उत्पन्न हो सकता है।

(7) ईख की गाँठ (पर्व) और उसका आगे का भाग साधारण होता है। वृक्ष की कोंपलें आदि भी साधारण होती हैं, लेकिन पीछे पकने के बाद प्रत्येक हो

जाती हैं।

(8) जिस समय अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं उसी समय शरीर और पुलवि की उत्पत्ति होती है, क्योंकि इसके बिना अनन्त जीवों की उत्पत्ति होने में विरोध है। कहीं पुलिव की पहले भी उत्पत्ति होती है क्योंकि वह अपने शरीरों का आधार है।

(9) एक बादर निगोद या सूक्ष्म निगोद शरीर में अनन्तानन्त साधारण जीव यदि पर्याप्तक होकर उत्पन्न होते हैं तो वहाँ अपर्याप्त जीव नहीं उपजते और यदि जीव अपर्याप्तक होकर उपजते हैं तो वहाँ पर्याप्त जीव नहीं उपजते।

(10) क्षीण कषाय गुणस्थान के चरम समय में जीवों का शरीर निगोद राशि से शून्य हो जाता है। बादर निगोद अपनी आयु समाप्त होने तक रहते हैं। नये निगोद जीव पैदा नहीं होते हैं।

(11) देवों का शरीर निगोद रहित होता है। उनके हड्डी, नस, रुधिर, चर्बी, मूत्र, मल, केश, रोग, चमड़ा और मांसादिक नहीं होता। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव भी निगोद जीवों से रहित होते हैं।

(12) छह मास और आठ समय में 608 जीव मोक्ष जाते हैं और उतने ही जीव नित्य-निगोद से निकलकर चतुर्गति भव को प्राप्त होते हैं।

(13) नित्य निगोद से आकर उसी भव से मोक्ष जाने की संभावना भी रहती है।

(14) निगोद जीवों में उत्पन्न होने वाले जीव के अतिशय तीव्र वेदना का अभाव होने से विवक्षित शरीर से तिगुणा वेदना समुद्घात संभव नहीं है।

5 कोशिका, वायरस तथा निगोद

अभी तक हमने कोशिका तथा वायरस की वैज्ञानिक मान्यता एवं निगोदिया जीवों की जैनदर्शन में वर्णित अवधारणा की विस्तृत चर्चा की है। अब यहाँ देखना यह है कि क्या कोशिका और वायरस को निगोदिया माना जा सकता है और यदि हाँ तो किस आधार पर? आगे हम इन्हीं बातों की चर्चा करेंगे।

जैसा कि हमने ऊपर वर्णन किया है कि कोशिकायें जीवित प्राणी होती हैं क्योंकि ये भी अन्य बड़े प्राणियों की तरह आहार ग्रहण करती हैं, मल त्याग करती हैं तथा पुनुर्त्पादन करके अपनी वंश वृद्धि भी करती हैं। अतः ये निश्चित तौर पर सजीव ही हैं। इसी प्रकार वायरस भी सजीव हैं क्योंकि ये स्वयं की वंश वृद्धि करते हैं तथा आहार के लिए अन्य किसी कोशिका में प्रवेश करते हैं।

जैन-धर्मानुसार जीवों का वर्गीकरण इन्द्रियों के आधार पर किया गया है। यहाँ प्रश्न यह है कि यदि कोशिका तथा वायरस सजीव हैं तो कितने इन्द्रिय हैं? त्रस हैं या स्थावर। त्रस जीवों का सामान्य लक्षण है कि वे चलते हैं। दो इन्द्रिय जीव भी रेंग कर चलते हैं, अतः वे भी त्रस हैं। दो इन्द्रिय जीवों के मुँह तथा जिव्हा

भी होती है। कोशिका तथा वायरस न तो स्वयं चलते हैं और न ही इनके मुँह तथा जीभ होती है। ये आहार ग्रहण करते हैं तो चारों ओर से उपलब्ध सामग्री को अवशोषित करके ही करते हैं। अतः कोशिका तथा वायरस को द्वि-इन्द्रिय या उससे अधिक इन्द्रिय वाले जीव नहीं माना जा सकता है। निश्चित रूप से इन्हें एक इन्द्रिय (स्थावर) जीव होना चाहिए।

स्थावर जीव पाँच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पति। अब प्रश्न यह है कि यदि कोशिका तथा वायरस स्थावर हैं तो इन पाँच में से कौन से हैं? चूँकि कोशिकायें वृक्षों तथा पशुओं के शरीर में भी पायी जाती हैं, अतः इन्हें पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक तथा वायुकायिक में नहीं रखा जा सकता है। इन्हें पेड़-पौधों की तरह वनस्पति भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ये पशुओं तथा मनुष्यों के शरीर में भी पायी जाती हैं। जैन दर्शन में वनस्पति के अन्तर्गत ही निगोदिया जीवों का वर्णन मिलता है। अतः हमें इन पर पुनर्विचार करना चाहिए।

निगोद भी दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म तथा बादर (स्थूल)। चूँकि सूक्ष्म तो हमारे ज्ञान का विषय नहीं हैं, अतः अब मात्र बादर निगोद का विकल्प ही शेष रह जाता है।

5.1 कोशिका तथा निगोद

जैन-दर्शनानुसार कुछ वृक्षों के पत्ते साधारण होते हैं तो कुछ की जड़ें। गन्ना (ईख) आदि की गाँठें साधारण होती हैं। वृक्षों की कोपलें तथा ईख की गाठों को साधारण क्यों कहा गया, यह समझने की जरूरत है। चूँकि ये हिस्से आकार में स्वयं बढ़ते हैं तथा इनसे नये वृक्ष भी पैदा करे जा सकते हैं। यदि गन्ने की गाँठ को जमीन में गाड़ दें तो नया गन्ना पैदा हो जाता है। जैसा कि हम विज्ञान द्वारा जानते हैं कि आकार में वृद्धि कोशिकाओं की संख्या में वृद्धि के कारण होती है। नये वृक्षों में भी वृद्धि (growth) उनकी कोशिकाओं की संख्या में वृद्धि के कारण ही होती हैं। अतः जिन स्थानों पर कोशिकाओं में वृद्धि होती है या फिर जिन कोशिकाओं से (उसी योनि का) नया जीव पैदा हो उन्हें साधारण निगोद माना जाना चाहिए। चूँकि कोशिका की उत्पत्ति कोशिका से ही होती है, अतः कोशिका को साधारण निगोद जीव मानना चाहिए।

चूँकि एक कोशिका से अनेकों कोशिकाओं के जन्म लेने की संभावना तो होती है ही, अतः यह बात भी निगोदिया जीवों के लक्षणों जैसी ही है कि एक निगोद जीव से अनेकों जीव जुड़े रहते हैं।

जैन-दर्शनानुसार मनुष्य का शरीर भी निगोदिया युक्त होता है। विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि मनुष्य के शरीर में सामान्यतः सौ खरब

कोशिकायें होती हैं। अतः कोशिकाओं को निगोदिया जीव माना जा सकता है। तथा इन्हें साधारण निगोद की श्रेणी में रखा जा सकता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कोशिका पर्याप्तक होती हैं या अपर्याप्तक? कोशिका जीवन की न्यूनतम इकाई होती है तथा यह अपने आप में उसी प्रकार एक स्वतन्त्र अस्तित्व वाला जीव होती हैं जैसे कि आप और हम। कोशिका अपने पूर्ण शरीर के साथ होती है। अतः कोशिकाओं को पर्याप्तक माना जाना चाहिए।

मनुष्य स्वयं में एक अलग व्यक्तित्व वाला जीव होता है, साथ ही अनेक कोशिकायें इसके आश्रित रहती हैं। अतः मनुष्य के शरीर में उसके आश्रित कोशिकाओं को पर्याप्तक (बादर) निगोद मानना चाहिए।

निगोद के सम्बन्ध में जो पुलवियों का वर्णन किया गया है वह भी मनुष्य के शरीर की रचना सम्बन्धी वैज्ञानिक मान्यता से अद्‌भुत साम्य रखता है। पुलवियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि स्कन्ध, अण्डर आवास, पुलिव और निगोद शरीर ये पाँच स्थान निगोदिया के होते हैं। मनुष्य के शरीर में भी ये स्थान हैं जोकि इस प्रकार से है—पूर्ण शरीर, अंग-तन्त्र, अंग-प्रत्यंग, ऊतक तथा कोशिका। अनेक कोशिकाओं से मिलकर ऊतक बनता है, अनेक ऊतकों से अंग-प्रत्यंग, अंग-प्रत्यंगों से अंग-तंत्र तथा अंग तन्त्र से शरीर। शरीर के इन पाँचों भागों में कोशिका उसी प्रकार पायी जाती है जिस प्रकार पाँचों पुलवियों में निगोद जीव पाये जाते हैं। इस प्रकार स्कन्ध पूर्ण शरीर के समकक्ष है, अण्डर अंग-तंत्र के, आवास अंग-प्रत्यंगों के, पुलवि ऊतकों के तथा निगोद कोशिका के समकक्ष हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि अंग-तंत्र में माँस, रुधिर तथा तन्तु-तन्त्र आदि सभी सम्मलित हैं।

साधारण वनस्पति के सम्बन्ध में एक बात यह भी कही गयी है कि कुछ वनस्पति प्रारम्भ में प्रत्येक होती हैं और बाद में साधारण हो जाती हैं। तथा कुछ वनस्पति प्रारम्भ में साधारण होती हैं और बाद में प्रत्येक हो जाती हैं। यह बात भी मनुष्य की कोशिकाओं की क्रियाओं से मिलती-जुलती है। मनुष्य के शरीर के निर्माण का प्रारम्भ मादा के अण्डाणु तथा नर के शुक्राणु के संयोग (fussion) से बनी एक नयी कोशिका से होता है। चूँकि प्रारम्भ में यह नयी बनी कोशिका एक तथा स्वतन्त्र होती है, अतः प्रारम्भ में यह प्रत्येक होती हैं। बाद में यह कोशिका मिटोसिस तथा मियोसिस द्वारा संख्या में वृद्धि करने लगती है तब यह साधारण हो जाती हैं। कोशिका वृद्धि के इसी क्रम में मनुष्य शरीर की कुछ कोशिकायें विशिष्ट बन जाती है तथा विभिन्न अंगोपांगों का निर्माण करती हैं आगे चलकर प्रजनन-ग्रन्थियों द्वारा मादा अण्डाणु पैदा करती है तथा नर शुक्राणु। अण्डाणु तथा शुक्राणु परिपक्व कोशिकायें होती हैं। जिन कोशिकाओं का पुनः विभाजन नहीं होता है वे परिपक्व (matured) कोशिकायें कहलाती हैं। जैनदर्शन के अनुसार वनस्पतिकायिक जीवों में ऐसी

अवस्था देखने में आती है। कच्ची अवस्था में वनस्पति साधारण जीवों से युक्त अर्थात् प्रतिष्ठित होती है बाद में अप्रतिष्ठित हो जाती है।

इसी क्रम में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि बैक्टेरिया एक -कोशिय जीव होते हैं, वे भी प्रत्येक हैं। हालांकि बैक्टेरिया अपनी वंश वृद्धि (प्रजनन) कोशिका विभाजन के द्वारा ही करते हैं लेकिन इनके कोशिका विभाजन तथा मनुष्य के शरीर की कोशिका के विभाजन में भी अन्तर है। बैक्टेरिया कोशिका-विभाजन के बाद अलग-अलग हो जाते हैं जबकि मनुष्य की कोशिकायें विभाजन के पश्चात भी जुड़ी हुई रहती है। मनुष्य की कोशिकायें मनुष्य के जीवन पर निर्भर करती हैं तथा उनका भोजन मनुष्य के भोजन पर निर्भर करता है। अतः बहु-कोशिय जीवों की कोशिकायें उन जीवों के आश्रित होती हैं जबकि बैक्टेरिया के साथ ऐसा नहीं होता है तथा वे अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से रहते हैं।

कोशिकाओं के आकार-प्रकार में विविधता पायी जाती है। संसार में पन्द्रह लाख से अधिक प्रजातियों को खोजा जा चुका है। जितने प्रकार के जीव हैं उनसे कई गुने प्रकार की कोशिकायें होती हैं। जैसे कि मनुष्य के शरीर में स्थित लगभग सौ खरब कोशिकाओं में से कुछ रक्त (रुधिर) कोशिकायें, कुछ तन्तु-कोशिकायें कुछ त्वचा कोशिकायें आदि होती हैं।

5.2 वायरस तथा निगोद

जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि वायरस के शरीर की रचना पूर्ण विकसित कोशिका के रूप में नहीं होती हैं बल्कि उसका शरीर कोशिका के डी. एन. ए. या आर. एन. ए. का एक हिस्सा मात्र से ही निर्मित होता है। अतः हम कह सकते हैं कि वायरस वे जीव हैं जो अपने शरीर की पर्याप्ति पूर्ण नहीं कर पाते हैं, यानि कि पूर्ण कोशिका विकसित नहीं कर पाते हैं। अतः वायरस अपर्याप्तक जीव होते हैं। चूँकि कोशिका स्वयं निगोदिया है, अतः उसके किसी हिस्से से निर्मित शरीर वाला जीव भी निगोदिया होना चाहिए। वायरस का जीवन बहुत कम होता है। पर जब कोशिका में प्रवेश कर जाता है तो स्वयं का अस्तित्व समाप्त कर लेता है तथा क्षण भर में ही असंख्यात वायरस को जन्म दे देता है। जिस प्रकार अपर्याप्त निगोद अपनी पर्याप्ति पूर्ण करने से पहले ही मरण को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वायरस भी कोशिका निर्माण करे बगैर ही मर जाते हैं। इस प्रकार वायरस को अपर्याप्तक निगोदिया जीव कह सकते हैं।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि वायरस जिस कोशिका में प्रवेश कर जाते हैं उसे वे नष्ट कर देते हैं तथा वहाँ फिर सिर्फ वायरस ही पैदा होते हैं, नयी कोशिका नहीं। यह उसी प्रकार की बात है कि एक निगोद शरीर में अनन्तानन्त साधारण जीव यदि केवल पर्याप्तक ही उत्पन्न होते हैं तो वहाँ अपर्याप्तक नहीं उपजते और

यदि अपर्याप्तक उपजते हैं तो वहाँ पर्याप्तक नहीं उपजते। अतः जिस कोशिका-शरीर में वायरस (अपर्याप्तक साधारण जीव) पैदा होते हैं वहाँ कोशिका में पर्याप्तक साधारण जीव पैदा नहीं होते। और जो कोशिका वायरस-मुक्त पर्याप्तक साधारण जीव होती हैं वह नयी कोशिकाओं (पर्याप्तक साधारण जीवों) को पैदा करता है।

6 निष्कर्ष

कोशिका और वायरस की निगोदिया जीवों से तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कोशिका तथा वायरस निगोदिया जीव ही है। इतना अवश्य है कि ये दोनों बादर हैं। कोशिका पर्याप्तक साधारण जीव हैं तथा वायरस अपर्याप्तक साधारण जीव हैं। बहुकोशिय प्राणी, जैसे—मनुष्य आदि का शरीर निगोदिया जीवों से युक्त होता है।

इस प्रकार जिन निगोदिया जीवों का वर्णन जैनदर्शन में किया गया है उनमें से कुछ कोशिका, वायरस आदि को विज्ञान ने खोज निकाला है लेकिन अभी भी बहुत से अन्य निगोदिया जीवों की खोज करना बाकी है।

संदर्भ

1. 'The cell' by John Pfeiffer, (Second Edition, 1988)] Time life books, Hong Kong,
2. 'कोशिका से कोशिका तक', बाल फोंडकें (1992), C.S.I.R., नयी दिल्ली
3. 'Cell', world book Encyclopedia, vol. 3
4. 'Virus', world book Encyclopedia, vol. 20
5. 'वनस्पति', जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-3, भारतीय ज्ञानपीठ

विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में सम्मूर्च्छन-जन्म

1 प्रस्तावना

जैनदर्शन में जीवों की उत्पत्ति एवं उनके जन्म के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन मिलता है। जीवों के सम्मूर्च्छन जन्म सम्बन्धी जैनों की अवधारणा पूर्णतः मौलिक एवं विशिष्ट है, लेकिन इस सम्बन्ध में व्यापक भ्रम एवं शंकायें हैं। जैन-दर्शनानुसार चार इन्द्रिय तक के सभी जीवों तथा कुछ पंचेन्द्रिय जीवों का जन्म सम्मूर्च्छन रीति से होता है। चींटी, मच्छर आदि कीटों को चार इन्द्रिय तक के जीव होने के कारण सम्मूर्च्छन जीव माना गया है। मत्स्य आदि पंचेन्द्रिय जीवों को भी सम्मूर्च्छन माना गया है। यह भी अवधारणा है कि सभी सम्मूर्च्छन जीव नंपुसक ही होते हैं और उनमें नर तथा मादा का स्पष्ट भेद भी नहीं होता है।

अतः जीवों के जन्म सम्बन्धी अवधारणा को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखना जरूरी है। इसी बात को ध्यान में रखते हुये पहले जीवों के जन्म सम्बन्धी जैनदर्शन की अवधारणा प्रस्तुत की जा रही है, तथा उसके बाद वैज्ञानिक आधार को प्रस्तुत करेंगे। इसके बाद ही तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भ्रम तथा शंकाओं का तर्क संगत समाधान किया जा सकेगा।

2 जैन-दर्शनानुसार जन्म के भेद

जैनदर्शन में जीवों का जन्म तीन प्रकार से बताया है—(1) सम्मूर्च्छन जन्म, (2) गर्भ जन्म तथा (3) उपपाद जन्म।[1,2] इधर-उधर के परमाणुओं के मिलने से तथा विभिन्न अनुकूल वातावरण से जो जन्म होता है उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं। रति क्रिया के बाद नर तथा मादा के क्रमशः वीर्य और रज के संयोग से जो जन्म होता है उसे गर्भजन्म कहते हैं। निश्चित उपपाद शय्याओं पर देव व नारकी जीवों का जो जन्म होता है उसे उपपाद जन्म कहते हैं।

गर्भजन्म वाले जीवों को तीन भागों में बाँटा गया है—(1) पोतज, (2) अण्डज तथा (3) जरायुज। जिनके शरीर के साथ गर्भ में थैली आदि का कोई आवरण नहीं रहता है तथा उत्पन्न होते ही जो चलने लगते हैं ऐसे—सिंह, व्याघ्र आदि जीव पोतज कहलाते हैं। अण्डे से जिनका जन्म होता है ऐसे पक्षी आदि अण्डज कहलाते हैं। जिनके शरीर के साथ मांस की थैली का आवरण होता है, जैसे—मनुष्य, गाय,

भैंस आदि ज़रायुज कहलाते हैं। देव तथा नारकियों की उपपाद शय्याएं निश्चित हैं। उन पर आत्मा के प्रदेश जब पहुँचते हैं तब अन्तर्मुहूर्त (लगभग 48 मिनट) में पूर्ण शरीर की रचना अपने आप हो जाती है। इनके अतिरिक्त अन्य जितने भी जीव हैं उनका जन्म सम्मूर्च्छन रीति से ही होता है।

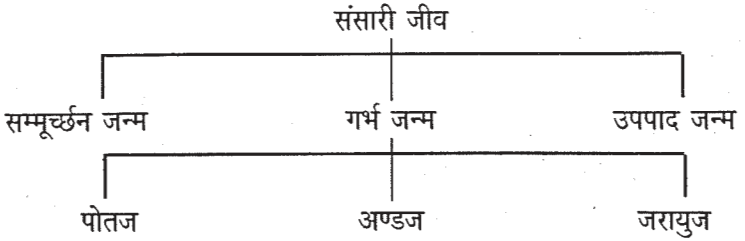

जन्म के आधार पर भेद

2.1 सम्मूर्च्छन जीव—जैनदर्शन में एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के सभी जीव तथा कुछ पंचेन्द्रिय जीवों का जन्म सम्मूर्च्छन रीति से होना बताया गया है।[3] ये जीव नपुंसक ही होते हैं। इनमें नर और मादा का स्पष्ट भेद नहीं होता है। इनके शरीर की रचना में नर व मादा की शारीरिक संरचना की अपेक्षा अन्तर पाया जाता है। इन सम्मूर्च्छन जीवों में मैथुन संज्ञा सर्वाधिक होती है। वे मैथुन भी कर सकते हैं करते भी हैं लेकिन गर्भ धारण न कर सकने के कारण नपुंसक ही होते हैं। पुरुष या स्त्री होकर भी सन्तान की उत्पत्ति में सक्षम न होना अर्थात् बांझ होना यह शारीरिक अक्षमता है लेकिन कर्म के उदय में शरीर में प्रजनन के योग्य अंगों का निर्माण ही नहीं होना तथा भावात्मक रूप से स्त्री-पुरुष दोनों के साथ मैथुन की इच्छा होना यह नपुंसक वेद का कार्य है।

एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के सभी जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले होते हैं। यहाँ दो, तीन तथा चार इन्द्रिय जीवों के कुछ उदाहरण देना उचित होगा। जिस जीव के स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियां होती हैं, उसे दो इन्द्रिय जीव कहते हैं: जैसे—लट, केंचुआ, सीप, जोंक, शंख आदि। जिसके स्पर्शन, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियां होती हैं, उसे तीन इन्द्रिय जीव कहते हैं जैसे : कानखजूरा, चींटी, बिच्छू, खटमल, जूँ, घुण (घुन, सुरैरी), इन्द्रगोप गिंजाई आदि। जिसके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ होती हैं, उसे चार इन्द्रिय जीव कहते हैं जैसे—भौरा, बर्र, मक्खी, मच्छर, डाँस, टिड्डी आदि। ये सभी जीव तो सम्मूर्च्छन होते ही हैं इनके अतिरिक्त कुछ पंचेन्द्रिय तिर्यंच जैसे मछली, कछुआ, मेढ़क आदि तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का सम्मूर्च्छन-जन्म होता है।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच जो सम्मूर्च्छन जन्म लेते हैं वे संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के हो सकते हैं तथा पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में रह सकते हैं। लेकिन सम्मूर्च्छन-जन्म वाले मनुष्य संज्ञी और लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं। इनका शरीर अंगुल के असंख्यात भाग मात्र रहता है और यह जन्म लेने के बाद शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इनकी उत्पत्ति मलमूत्र, वीर्य, कफ, कान, नाक व दांत के मैल एवं अत्यन्त अपवित्र स्थानों में तत्काल हो जाती है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक सम्मूर्च्छन तिर्यंच जैसे मछली, कछुआ, आदि जीवों के संयमासंयम धारण करने की योग्यता का उल्लेख जैनागम में मिलता है।[6]

यहाँ एक बात विचारणीय है कि चींटी का जन्म सम्मूर्च्छन रीति से होता है। किन्तु चींटी आदि के भी अण्डे देखे जाते हैं, अतः इनका गर्भ-जन्म ही होता है, सम्मूर्च्छन नहीं ऐसी शंका जैनाचार्य ने स्वतः की है और उसका समाधान देते हुए स्पष्ट किया है कि अण्डों की उत्पत्ति गर्भ में ही होती है ऐसा नियम नहीं है।[4] अर्थात् चींटी के अण्डे होते हुए भी चींटी सम्मूर्च्छन जीव है।

2.2 **वनस्पतिकायिक-जीव**—जैनागम के अनुसार सभी एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं। ये पांच प्रकार के होते हैं—(1) पृथ्वीकायिक (2) जलकायिक (3) अग्निकायिक, (4) वायुकायिक तथा (5) वनस्पतिकायिक। ये सभी स्थावर जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले होते हैं। यहाँ हम सिर्फ वनस्पति-कायिक जीवों की कुछ चर्चा करेंगे।

वनस्पति के सात भेद होते हैं[5]—

(1) मूल बीज — जिनका मूल अर्थात जड़ ही बीज हो (जो जड़ के बोने से उत्पन्न होती है) वे मूल बीज कही जाती हैं, जैसे—अदरख, हल्दी आदि।

(2) अग्र बीज — अग्रभाग ही जिनका बीज हो (अर्थात टहनी की कलम लगाने से जो उत्पन्न हो) वे अग्र बीज हैं, जैसे—गुलाब, आर्यक, उदीची आदि।

(3) पर्व बीज — पर्व ही है बीज जिनका वे पर्व बीज हैं, जैसे—गन्ना, बेंत आदि।

(4) कन्द बीज — जो कन्द से उत्पन्न होती हैं, वे कन्द बीज हैं, जैसे—आलू, सूरण आदि।

(5) स्कन्ध बीज — जो स्कन्ध से उत्पन्न होती हैं, ये स्कन्ध बीज हैं, जैसे—सलरि, पलाश आदि।

(6) बीज रुह — जो बीज से उत्पन्न होती हैं, वे बीज रुह हैं, जैसे—चावल, गेहूँ, चना आदि।

(7) सम्मूर्च्छिम — जो नियत बीज आदि की अपेक्षा से रहित, केवल

मिट्टी और जल के सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं उनको सम्मूर्च्छिम वनस्पति कहते हैं, जैसे—फूई, काई, घास आदि।

उपर्युक्त सातों प्रकार की वनस्पतियाँ सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होती है और सभी नपुंसक हैं।

2.3 **योनियाँ**—जिसमें जीव जाकर उत्पन्न हो उसका नाम योनि है। योनि वस्तुतः जीवों का उत्पत्ति स्थान या जन्म-स्थान है। सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, संवृत्त (ढकी हुई), विवृत (खुली हुई) आदि के भेद से योनि अनेक प्रकार की हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति के भेद से योनि के चौरासी-लाख भेद-प्रभेद हैं। उनमें इतर-निगोद, नित्य-निगोद, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक व वायुकायिक जीवों की सात-सात लाख योनियां होती हैं। वनस्पतिकायिक (वृक्ष आदि) की दस लाख योनियाँ हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय तथा चार-इन्द्रिय जीवों की दो-दो लाख योनियाँ हैं। देव, नारकी तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के चार-चार लाख योनियाँ हैं। मनुष्यों के चौदह लाख योनियां होती हैं।[7] एक प्रकार की योनि में जीवों की अनेक प्रजातियां उत्पन्न हो सकती हैं। जैसे—अचित्त योनि देव व नारकी दोनों के होती है। इसी तरह अन्य सभी जीवों के साथ ऐसा संभव है। आचार्य लिखते हैं कि चारों प्रकार के सब देवों के सामान्य रूप से सब योनियाँ होती हैं। विशेष रूप से चार लाख योनियाँ होती हैं।[8] विज्ञान ने कीट पतंगों की लगभग दस लाख प्रजातियों को खोज निकाला है। जैनदर्शन के अनुसार ये कीट पतंगे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय या चार-इन्द्रिय हैं जिनकी सम्मिलित योनियां छह लाख हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान तो यह है कि इन प्रजातियों की संख्या लगभग अस्सी-नब्बे लाख हो सकती है जो कि छह-लाख से कहीं अधिक है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक प्रकार की सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण आदि योनि से अनेक प्रजातियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

3 प्रजनन सम्बन्धी वैज्ञानिक तथ्य

प्रजनन (Reproduction) वह प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य, पशु तथा वनस्पति स्वजाति को उत्पन्न करते हैं। किसी भी प्रजाति (Species) का जीवित रहना प्रजनन पर ही आधारित है। यदि किसी प्रजाति विशेष में प्रजनन किसी कारण से रुक जाए या फिर प्रजनन की दर मृत्यु-दर से कम हो जाये, तो वह प्रजाति नष्ट हो जाती है। आज तक अनकों प्रजातियाँ इसी कारण से नष्ट हो चुकी हैं।

प्रजनन मुख्यतः दो प्रकार से होता है—(1) योनिज (Sexual) तथा (2) अयोनिज (Asexual)। योनिज प्रजनन में नर तथा मादा मैथुन क्रिया करते

हैं, तथा नर के शुक्राणु (Sperm) मादा के अण्डाणु या डिंब (Egg) को निषेचित (Fertilise) कर देते हैं तो जीव की उत्पत्ति हो जाती है। अयोनिज प्रजनन में जीव अपने स्वयं के विभाग करता है, या फिर किसी अन्य द्वारा उसके विभाग किये जाते हैं, फिर ये टुकड़े बढ़ कर पूर्ण रूप धारण कर लेते हैं। जो प्रजाति अयोनिज प्रजनन करती हैं उसमें नर या मादा का भेद नहीं होता है। मनुष्य व सामान्यतः सभी उच्च श्रेणी के पशुओं में मुख्यतः योनिज प्रजनन ही होता है, जबकि सामान्यतः सभी निम्न श्रेणी के जीवों तथा वनस्पतियों में मुख्यतः अयोनिज प्रजनन ही होता है।

योनिज प्रजनन एक क्लिष्ट प्रक्रिया है। जिन पशुओं तथा वनस्पतियों में योनिज प्रजनन होता है उनमें प्रजनन अंग होते हैं। ये प्रजनन अंग सेक्स सेल्स (Sex Cells) उत्पन्न करते हैं जिन्हें गमेट्स (Gametes) कहते हैं। नर के गमेट्स को शुक्राणु तथा मादा के गमेट्स को डिंब (Ovum) कहते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि शुक्राणु तथा डिंब के मिलने से ही डिंब निषेचित (फलित) हो जाता है तथा जीव उत्पन्न हो जाता है। शुक्राणु तथा डिंब (अण्डाणु) के परस्पर मिलने की प्रक्रिया अलग-अलग पशुओं तथा वनस्पतियों में अलग -अलग होती है। जीवों के अंग-उपांगों की संरचना में क्रोमोसोम्स का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

जो पशु या वनस्पति अयोनिज प्रजनन से उत्पन्न होते हैं उनके प्रजनन अंगों का अभाव होता है। अयोनिज प्रजनन कई प्रकार का होता है, इसकी चर्चा बाद में करेंगे।

3.1 **पशुओं में प्रजनन**—पशुओं में योनिज तथा अयोनिज दोनों प्रकार से प्रजनन होता है। लेकिन उनकी प्रजनन प्रक्रिया कई प्रकार की होती हें। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि योनिज प्रजनन में नर तथा मादा अपने विशेष अंगों से गमेट्स छोड़ते हैं। जीव के जन्म के लिये इन गमेट्स (शुक्राणु तथा अण्डाणु) का एक ही स्थान पर एक साथ होना अनिवार्य है। योनिज प्रजनन के अलग-अलग तरीके इस बात पर निर्भर करते हैं कि पशु अपने गमेट्स (शुक्राणु तथा अण्डाणु) कहाँ तथा किस प्रकार छोड़ते हैं तथा अण्डाणु कहाँ निषेचित (फलित) होता है।

अधिकतर उच्च श्रेणी के पशुओं, जिनमें कुछ स्तनधारी, पक्षी तथा सरीसर्प (रेंगने वाले) पशु सम्मिलित हैं, में नर अपना शुक्राणु मादा के उस खुले हिस्से में छोड़ता है जो प्रजनन अंग से जुड़ा होता है। इस स्थिति में यदि निषेचन की क्रिया होती है तो वह मादा के प्रजनन अंग के अन्दर ही होती है। इस प्रजनन की क्रिया को आन्तरिक निषेचन कहते हैं।

मनुष्य को वैज्ञानिक वर्गीकरण के तहत 'स्तनधारी पशुओं' की श्रेणी में रखा गया है। लेकिन इनमें पशुओं तथा वनस्पतियों से कुछ भिन्न प्रजनन होता है,

क्योंकि यह प्रजनन मात्र बायलॉजिकल प्रोसेस ही नहीं है। मनुष्यों में मैथुन तथा प्रजनन की क्रिया में स्त्री तथा पुरुष में परस्पर प्रेम तथा गहरी भावनाओं का भी विशेष योगदान होता है, जबकि अधिकतर पशुओं तथा वनस्पतियों में इन भावनाओं का अभाव रहता है।

अधिकतर मत्स्य तथा उभयचर प्राणियों (जो जमीन तथा पानी दोनों में रह सकें) में नर तथा मादा अपने गमेट्स पानी में छोड़ते हैं। लाखों करोड़ों की तादाद में ये अपने शुक्राणु तथा अण्डाणु छोड़ते हैं, लेकिन उनमें से बहुत कम ही आपस में मिल पाते हैं। इस प्रक्रिया को बाह्य-निषेचन कहते हैं।

सैमन मछली में भी बाह्य-निषेचन द्वारा प्रजनन होता है। मादा सैमन जल के नीचे जमीन में खोद कर घरौंदा बनाती है। नर तथा मादा एक एक करके उसके ऊपर से गुजरते हुए तैरते हैं तथा शुक्राणु और अण्डाणु को उस पर छोड़ते हैं। जो भी अण्डा निषेचित हो जाता है, वह बढ़ने लगता है। उनमें से जो जीवित रह पाते हैं, वे वयस्क सैमन बन जाते हैं।

अधिकतर सरीसर्प तथा पक्षियों में आन्तरिक निषेचन ही होता है, लेकिन ये अण्डे पैदा करते हैं, बच्चे नहीं। इन अण्डों के अन्दर इतनी खाद्य सामग्री होती है, जो अण्डों से बच्चे निकलने तक के समय के लिये उन जीवों के लिये काफी होती है। कछुआ भी अण्डे देता है, लेकिन वह अपने अण्डे जमीन में गड्ढा खोद कर देता है। अण्डे देने के बाद उन अण्डों को मिट्टी में दबाकर स्वयं पानी में चला जाता है।

आन्तरिक निषेचन में अण्डे के निषेचित होने की सम्भावना बाह्य-निषेचन की तुलना में बहुत अधिक होती है। बाह्य-निषेचन में अण्डाणुओं (गमेट्स) को मादा द्वारा बाहर निकाल दिये जाने के कारण वे अलग-अलग हो जाते हैं, उनमें से अनेकों या तो मर जाते हैं, या फिर अन्य प्राणियों द्वारा खा लिये जाते हैं। लेकिन आन्तरिक निषेचन में इस बात का डर नहीं रहता है। वे प्राणी जो बाह्य-निषेचन करते हैं, आन्तरिक निषेचन करने वाले प्राणियों की तुलना में कहीं बहुत अधिक अण्डे देते हैं। उदाहरणार्थ—एक मादा गोरिल्ला एक मास में एक अण्डा छोड़ता है, जबकि एक मादा मेढ़क लाखों की तादाद में अण्डे छोड़ता है।

जो प्राणी आन्तरिक निषेचन करते हैं, उन प्राणियों की अधिकतर प्रजातियों में उनके बच्चों की सुरक्षा मादा करती हैं तथा उन्हें भोजन देती हैं। जबकि बाह्य-निषेचन करने वाले प्राणियों की सुरक्षा तथा भोजन की व्यवस्था में मादा कोई कार्य नहीं करती है। कुछ प्राणी उभयलिंगी होते हैं जैसे—केंचुआ, कुछ प्रकार के स्पोंज आदि। इस प्रकार की प्रजातियों में एक ही प्राणी नर भी होता है तथा मादा का कार्य भी करता है ये एक ही अंग से शुक्राणु भी छोड़ते हैं तथा अण्डाणु भी। इस प्रकार एक ही प्राणी के शरीर से निकला डिंब या अण्डाणु अपने ही शरीर से निकले शुक्राणु द्वारा निषेचित हो जाता है। इस निषेचन को स्व-निषेचन कहते

हैं। कुछ उभयलिंगी एक समय नर होते हैं तो दूसरे समय मादा। अतः प्रजनन के लिये उन्हें दूसरे स्व-जाति के प्राणी से मिलना होता है।

कुछ प्राणियों जैसे—एफाइड, मधुमक्खी, कीट आदि में नर के शुक्राणु द्वारा निषेचन के बिना ही अण्डों में से बच्चे पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार के प्रजनन को 'पार्थेनोजेनेसिस' कहते हैं। कुछ प्राणी जो पार्थेनोजेनेसिस द्वारा प्रजनन करते हैं, मैथुन क्रिया द्वारा भी प्रजनन करते हैं।

3.1.1 **चींटी में प्रजनन**—विश्वभर में दस लाख से अधिक प्राणियों (Animals) की प्रजातियों की खोज की जा चुकी है। इनमें से सबसे ज्यादा प्रजातियां कीट-पतंगों की ही है। यह संख्या दस लाख से कुछ ही कम होगी। प्रति वर्ष औसतन सात हजार नई प्रजातियाँ सामने आ रही हैं। अनुमानतः इन कीट-पतंगों की कुल प्रजातियाँ कम से कम अस्सी-नब्बे लाख हैं। चींटी भी कीट की श्रेणी में आती हैं। इसकी भी दस हजार से ज्यादा प्रजातियों को खोजा जा चुका है।

सभी कीटों की प्रजनन प्रक्रिया लगभग एक सी हैं। यहाँ हम चींटी की प्रजनन प्रक्रिया पर कुछ प्रकाश डाल रहे हैं।

चींटी के शरीर के मुख्य तीन भाग होते हैं—(1) सिरा Head, (2) मध्य भाग Trunk तथा (3) पिछला भाग Abdomen। सिरे या अग्रभाग में एंटिना, मुख तथा नेत्र होते हैं। पिछले भाग या उदर में प्रजनन अंग होता है। चींटी तीन प्रकार की होती हैं—(1) नर, (2) मादा या रानी तथा (3) श्रमिक या सेवक।

रानी चींटी का आकार सबसे बड़ा होता है तथा श्रमिक चींटी का सबसे छोटा। रानी तथा नर चींटी के पंख होते हैं, लेकिन श्रमिक के पंख नहीं होते हैं। श्रमिक चीटियाँ, रानी चींटी के लिये भोजन जुटाने तथा उनके अण्डों की देखभाल करने का कार्य करती हैं। ये ही रानी तथा उसके अण्डों के लिये घरौंदा तैयार करती हैं। इस प्रकार श्रमिक चींटी का कार्य सदा रानी चींटी की सेवा करना ही है।

रानी (मादा) तथा नर चींटी मैथुन क्रिया के लिये हवा में उड़ान लगाते हैं, इस उड़ान को मेटिंग फ्लाइट (Mating Flight) कहते हैं। इस मेटिंग में नर अपना वीर्य (शुक्राणुओं को) मादा के उदर भाग में प्रविष्ट करा देता है। मादा इसे अपने उदर में सुरक्षित रख लेती है। इस मेटिंग के तुरन्त बाद नर चींटी मर जाती है। मादा एक बार या फिर कई नर चींटियों से कई बार मेटिंग करती है तथा उनके वीर्य को अपने उदर में सुरक्षित रख लेती है तथा उसे तभी छोड़ती है जब वह अण्डे देती है।

मेटिंग के बाद मादा या तो अपनी पुरानी कालोनी में या फिर किसी नई कालोनी में चली जाती है तथा वहां अण्डे देने का उपयुक्त स्थान ढूंढती है। मादा जब अण्डा देना शुरू करती है तो हजारों की संख्या में एक साथ अण्डे देती है। कई बार वह अपने उदर में पूर्व संचित शुक्राणुओं को अण्डों के साथ

छोड़ती है जिससे अण्डे निषेचित हो जाते हैं तथा कई बार बिना निषेचित किये अण्डे भी छोड़ती है। जो अण्डे निषेचित हो जाते हैं उनमें से मादा चींटी पैदा होती है, तथा जो अण्डे निषेचित बगैर रहते हैं उनसे नर तथा श्रमिक चींटी पैदा होती है। अण्डे देने के बाद उदर पूर्ति के लिये मादा अपने पंखों, मरे हुए कीटों तथा अण्डों को अपना भोजन बना लेती है। एक बार मेटिंग के बाद भी मादा कई बार अण्डे देती हैं। इन अण्डों से पांच छह सप्ताह में चींटी बाहर निकल आती हैं।

इन चींटियों में सबसे कम आयु नर चींटी की तथा सबसे अधिक आयु मादा की होती है। मादा की आयु बीस वर्ष तक होती है जबकि नर मेटिंग से पूर्व कुछ सप्ताह या महिने ही जीवित रहते हैं तथा मेटिंग के तुरन्त बाद मर जाते हैं।

3.1.2 **कुछ विशेष किस्म के कीटों में प्रजनन**– कुछ किस्म के क्रॉकरोच, मक्खी, भ्रमर आदि में मादा के उदर के अन्दर ही जीव बड़े हो जाते हैं तथा पूर्ण विकसित वयस्क के रूप में ही जन्म लेते हैं। कुछ अन्य किस्म के कीटों में कुछ विशेष मौसम में बहुत तेजी से प्रजनन होता है तथा उनके बच्चे भी बहुत ही जल्दी वयस्क हो जाते हैं। इससे कभी-कभी ऐसा भ्रम होने लगता है कि अमुक मौसम में ये कीट अपने आप ही पैदा होते हैं। वस्तुतः वे उपरोक्त प्रक्रिया द्वारा ही पैदा होते हैं।

3.1.3 **प्राणियों में अयोनिज प्रजनन**–कुछ प्राणियों में प्रजनन अंगों का अभाव होता है। अतः इन प्राणियों में जो प्रजनन होता है वह अयोनिज (Asexual) होता है। यह कई प्रकार से होता है–(1) द्विगुणन द्वारा (Binary Fission) (2) टुकड़े द्वारा (Fragmentation) (3) बडिंग द्वारा (Budding) तथा (4) स्पोर द्वारा (Spores)।

द्विगुणन प्रक्रिया में एक कोशिय जीव दो बराबर टुकड़ों में बंट जाता है। फिर वे दोनों टुकड़े अलग-अलग पूर्ण रूप को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार एक के स्थान पर दो जीव हो जाते हैं। अमीबा एक कोशिय प्राणी हैं, वह इसी प्रक्रिया द्वारा प्रजनन करता है।

कुछ एक कोशिय तथा अनेक कोशिय प्राणी अपने शरीर के कुछ हिस्से अलग कर लेते हैं। फिर ये अलग हुये टुकड़े पूर्ण रूप से विकसित होकर अपनी मूल प्रजाति के हिस्से बन जाते हैं। जिस प्राणी से ये टुकड़े होते हैं, उस प्राणी के वे टुकड़े पुनः विकसित हो जाते हैं। प्रजनन की इस प्रक्रिया को फ्रैगमैन्टेशन (Fregmentation) कहते हैं। इस वर्ग के प्राणियों में फ्लैटवोर्म, लोबस्टर्स तथा स्टार फिश सम्मिलित हैं।

कुछ प्राणी अपने शरीर के किसी हिस्से में गाँठ जैसी विकसित कर लेते हैं। यह गाँठ मूल प्राणी से अलग हो जाती है तथा कुछ समय बाद इससे ही पूर्ण

विकसित प्राणी बन जाता है। प्रजनन की इस प्रक्रिया को बडिंग (Budding) कहते हैं। कुछ प्रकार के स्पोंज में यह एक सामान्य प्रक्रिया है।

कुछ प्राणी अपने शरीर से एक कोशिय Structure छोड़ते हैं जिन्हें स्पोर (Spore) कहते हैं। इन स्पोरों में मूल प्राणी के सभी गुण होते हैं तथा ये विकसित होकर पूर्ण रूप धारण कर लेते हैं। मलेरिया पैरासाइट्स में इसी प्रकार प्रजनन होता है।

3.2 **वनस्पतियों में प्रजनन**—प्राणियों की तरह वनस्पतियों में भी प्रजनन योनिज तथा अयोनिज दोनों प्रकार से होता है। वनस्पतियों में अयोनिज प्रजनन सामान्यतः प्राणियों के समान ही होता है। लेकिन योनिज प्रजनन की प्रक्रिया कुछ भिन्न है। योनिज प्रजनन से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों में उन दोनों मूल वनस्पतियों के जीन्स होते हैं जिनके स्पर्म (Sperm) तथा एग (Egg) से वे उत्पन्न हुई हैं। जबकि अयोनिज प्रजनन से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों में मात्र एक मूल वनस्पति के गुण ही होते हैं।

3.2.1 **वनस्पतियों में योनिज प्रजनन**—योनिज प्रजनन में पौधे या वनस्पति गमेट्स पैदा करते हैं। ये गमेट्स नर पौधे के पराग कण (Pollen) तथा मादा पौधे के गर्भकेसर (Pistil) कहलाते हैं। जब पराग-कण गर्भकेसर से मिलते हैं तो गर्भकेसर को फलित या निषेचित कर देते हैं तथा इसी निषेचित गर्भकेसर से नया पौधा बनता है। इस क्रिया को परागण (Pollination) कहते हैं। कुछ वनस्पतियों में फूल लगते हैं जो कि स्पोर पैदा करते हैं इन स्पोर में से कुछ शुक्राणु का कार्य करते हैं तथा कुछ अण्डाणु का।

वनस्पतियों में परागण की क्रिया कई प्रकार से होती है। कुछ पौधे ऐसे होते हैं जिनके गर्भकेसर (Pistil) स्वयं द्वारा उत्पन्न पराग कणों से ही निषेचित हो जाते हैं। इस प्रकार के निषेचन द्वारा होने वाले प्रजनन की क्रिया को स्व-परागण कहते हैं। कुछ अन्य वनस्पतियों में एक वृक्ष (पौधा) नर का कार्य करता है तथा दूसरा मादा का। नर पौधा पराग कण पैदा करता है तथा मादा गर्भकेसर। नर द्वारा पैदा किये पराग कण जब मादा के पौधे तक पहुंच जाते हैं तथा गर्भकेसर से सम्पर्क में आते हैं तो गर्भकेसर निषेचित हो जाती है। पराग कण के मादा पौधे तक पहुंचने का कार्य कई प्रकार से होता है, जैसे—(1) मक्खियों, भँवरों, चींटी, तितली आदि द्वारा (2) हवा द्वारा, (3) बहते हुए पानी द्वारा (4) चौपायों द्वारा, (5) मनुष्यों द्वारा, आदि आदि। इस परागण को मिश्र-परागण (Cross-Pollination) कहते हैं।

कुछ वनस्पतियाँ ऐसी होती हैं जो अपने से स्पोर निकालती हैं। जमीन पर इनके गिरने से वहाँ की नमी के कारण ये बड़े होने लगते हैं तथा अपने जैसे ही पराग कण तथा गर्भकेसर निकालते हैं। ये दोनों मिलकर नये पौधे को जन्म देते हैं।

शंकुधारी वृक्ष, काई, शैवाल आदि वनस्पतियों में प्रजनन इसी प्रकार से होता है।

3.2.2 **वनस्पतियों में अयोनिज प्रजनन**—कई वनस्पतियों में अयोनिज प्रजनन भी होता है जिसे 'वनस्पति विस्तरण' (Vegitative Propagation) कहते हैं। इस प्रक्रिया में पौधे का एक हिस्सा ही दूसरे नये पौधे को जन्म देता है। यह हिस्सा जड़, तना, पत्ती तथा फूल कुछ भी हो सकता है। किसी-किसी पौधे में उसकी एक ही कोशिका से पूरा नया पौधा तैयार हो जाता है।

वनस्पति विस्तरण कई प्रकार से होता है—(1) Runner, (2) Budding (3) Cuttage, (4) Grafting (5) Layering आदि।

कुछ पौधों का तना मिट्टी के अन्दर जमीन के समानान्तर बढ़ने लगता है तथा मूल पौधे से कहीं दूर जमीन के ऊपर थोड़ा निकल आता है तथा नये पौधे को जन्म देता है। इस प्रकार के वनस्पति-विस्तरण को रनर (Runner) कहते हैं। वनस्पतियों में कुछ प्रजाति ऐसी भी होती है कि जिन्हें नष्ट करना आसान नहीं है। यदि उनका कोई एक हिस्सा भी बचा रह गया तो वह पुनः अपने नष्ट हुये शेष हिस्से की रचना कर लेता हैं। इस प्रक्रिया को बडिंग (Budding) कहते हैं। Runner की क्रिया पौधे स्वतः करते हैं, लेकिन Budding प्राकृतिक तरीके से भी होता है, तथा मनुष्यों द्वारा भी।

कुछ वनस्पति विस्तरण की प्रक्रिया, जैसे—Cuttage, Grafting तथा Layering मनुष्य अपने फायदे के लिये भी करता है। Cuttage में पौधे का एक हिस्सा काट कर बो दिया जाता है। मुख्यतः यह हिस्सा तना होता है या अन्य हिस्सा भी हो सकता है। हवा, पानी और मिट्टी के सम्पर्क में आकर यह बढ़ने लगता है तथा नये पौधे को जन्म देता है। Grafting (कलम) की प्रक्रिया में भी Cuttage की प्रक्रिया होती है, लेकिन इस प्रक्रिया में एक पौधे का तना काट कर दूसरे पौधे के तने से जोड़ दिया जाता है जो कि पहले वाले के लिये जड़ का कार्य करता है। इस प्रकार पौधे उगाने से फल अधिक लगते हैं। Layering में जड़ों से ही नया पौधा पैदा करते हैं। इसमें जड़ों की शाखाओं के हिस्से, मिट्टी, पानी या हवा में छोड़ दिये जाते हैं। जड़ों के ये हिस्से फिर एक नये पौधे को जन्म देते हैं।

3.3 **स्पोरों (Spores) द्वारा प्रजनन**—स्पोर बहुत ही छोटा तथा विशिष्ट आकार वाला ढांचा होता है, जिसमें अपने मूल जीव के सभी गुण होते हैं। लगभग सभी प्रकार की वनस्पतियों तथा कुछ प्रकार की आल्गी, बैक्टेरिया, फंगी तथा प्रोटोजोआ स्पोर पैदा करते हैं। ये हवा या पानी द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकते हैं तथा अपनी प्रजाति को जीवित रखने में सहायता करते हैं।

स्पोर आकार तथा शक्ल में कई प्रकार के होते हैं, लेकिन अधिकतर एक कोशिय ही होते हैं। कुछ फंगी जटिल सरंचना वाले बहु-कोशिय स्पोर पैदा करती

हैं। स्पोर में प्रोटोप्लाज्म (जीव तत्त्व) तथा भोजन होता है। कुछ स्पोर अपने ऊपर एक मोटा तथा मजबूत कवच बना लेते हैं जिसकी वजह से वे कई महीनों तक सुसुप्त अवस्था में जीवित रह पाते हैं। उनके ये गुण उन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जीवित रखते हैं। कुछ स्पोर पूँछधारी भी होते हैं जिसकी मदद से वे एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण कर सकते हैं। जब इन स्पोरों को अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं, ये अपने मूल रूप में बढ़ने लगते हैं।

स्पोर अलग-अलग वनस्पतियों में अलग-अलग तरीके से पैदा होते हैं। ये एक साथ बड़ी संख्या में पैदा होते हैं, लेकिन उनमें से कुछ ही जीवित रह पाते हैं तथा अंकुरित हो पाते हैं। जिन परागणों का हम ऊपर जिक्र कर आये हैं उनका मूल भी ये स्पोर ही हैं।

4 सम्मूर्च्छन जन्म : विवेचना एवं निष्कर्ष

प्रजनन के उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन से कई बातें सामने आती हैं–

1. जैनदर्शन के अनुसार वनस्पतियों के जो सात भेद बताये गये हैं, उनमें से पांच यानि कि मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज, तथा स्कन्ध बीज तो Cuttage के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। फुई, काई, आदि को सम्मूर्च्छिम वनस्पति में रखा गया है। विज्ञान के अनुसार इनका स्पोर द्वारा अयोनिज प्रजनन होता है।

यहीं से एक बात और स्पष्ट होती है कि मूलबीज, अग्रबीज आदि के प्रजनन में उस वनस्पति के किसी न किसी हिस्से को प्रयोग में लाया जाता है, चाहे वह गन्ने के पर्व के रूप में हो या फिर आलू की आँख के रूप में। फिर भी इन सबको सम्मूर्च्छन जन्म वाली श्रेणी में रखा गया है। अतः यहां से यह सिद्ध होता है कि 'सम्मूर्च्छन जन्म वाले वनस्पति जीवों के प्रजनन में उन जीवों का कोई हिस्सा किसी न किसी रूप में प्रयोग में आ सकता है', ऐसा मानने में जैनदर्शन में कोई विरोध नहीं आता है।

यहाँ पर एक प्रश्न यह और बनता है कि क्या गन्ने के पर्व या आलू की आँख को ही जीव माना जाय या नहीं? समाधान यह है कि वस्तुतः पर्व तथा आँख स्वयं जीव नहीं है, बल्कि जीव की उत्पत्ति स्थान या योनिभूत स्थान है। जब इनको मिट्टी, वायु तथा जल का अनुकूल संयोग मिल जाता है तो यहां जीव, नये पौधे के रूप में पैदा हो जाता है।

2. विज्ञान के अनुसार किसी भी प्रजाति के प्रजनन में किसी न किसी रूप में उस प्रजाति का योगदान तो रहता ही है, चाहे वह प्रजनन स्पोर द्वारा हो, या द्वि-गुणन द्वारा या फिर अण्डाणु द्वारा, प्रजाति ही अपनी प्रजाति की वंश वृद्धि करती है। अब प्रश्न यह है कि क्या सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीवों के प्रजनन में भी प्रजातियों का कुछ योगदान रह सकता है या नहीं? जैसा कि हम ऊपर कह आये

हैं कि कई वनस्पतियों के उत्पन्न होने (प्रजनन) में वनस्पति के किसी न किसी अंग (जैसे—पर्व, आंख, तना आदि) का योगदान रहता है, फिर भी जैन-दर्शनानुसार उन्हें सम्मूर्च्छन माना गया है। अतः किसी जीव को सम्मूर्च्छन की श्रेणी से बाहर मात्र इस आधार पर नहीं रखा जा सकता है कि वह अपने प्रजनन में अपना ही हिस्सा प्रयोग में लाता है। जो नियम वनस्पति के लिये लागू होता है, वही नियम पशुओं (Animals) के लिये भी मान्य होना चाहिये।

3. कई वनस्पतियों तथा पशुओं में अयोनिज प्रजनन होता है। इस प्रकार के जीवों में नर तथा मादा का भेद नहीं रहता है। कुछ वनस्पतियाँ तथा सूक्ष्म जीव स्पोर छोड़ते रहते हैं। ये स्पोर अनुकूल परिस्थिति पाकर बढ़ने लगते हैं। इस प्रकार जिन जीवों में अयोनिज तथा स्पोर द्वारा जो प्रजनन होता है, उन्हें सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीव मानने में कोई आपत्ति नहीं आती है।

4. कुछ वनस्पतियों में परागण की क्रिया होती है। हाँलाकि विज्ञान के अनुसार इन्हें योनिज प्रजनन की श्रेणी में रखा गया है, लेकिन ये वस्तुतः एक प्रकार से बाह्य-निषेचन ही मानना चाहिये, क्योंकि परागकण एक पौधे द्वारा छोड़े जाते हैं तथा यहाँ पेड़ों के परस्पर नजदीक में रहना आवश्यक नहीं है। कुछ पशुओं जैसे मत्स्य, मेंढ़क आदि में भी बाह्य-निषेचन होता है और इनमें नर तथा मादा का भेद होने पर भी वे आपस में संभोग जैसी क्रिया नहीं करते हैं। नर तथा मादा क्रमशः जो वीर्य तथा अण्डाणु छोड़ते हैं, वे वस्तुतः एक प्रकार के रसायन हैं और जब ये रसायन आपस में सम्पर्क में आते हैं तो इनका सम्मिश्रण ही जीवों की उत्पत्ति का स्थान या योनि-स्थान होता है, मादा का उदर नहीं। जब रसायनों के इस सम्मिश्रण को अनुकूल ताप तथा अन्य वातावरण मिल जाता है, तब उसमें जीव आ जाता है या जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। चूंकि बाह्य-निषेचित अण्डे ही योनि स्थान हैं, अतः इस प्रकार के जन्म को भी सम्मूर्च्छन जन्म मानना चाहिये।

यहाँ दो प्रश्न बनते हैं—एक तो यह कि विज्ञान के अनुसार बाह्य-निषेचन में नर तथा मादा क्रमशः वीर्य तथा डिंबाणु छोड़ते हैं अर्थात् इस प्रजनन में उनका सहयोग तो रहता ही है, अतः इन्हें सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीव की श्रेणी में कैसे रखा जायेगा? दूसरा प्रश्न यह है कि जब नर तथा मादा का भेद देखा जाता है तो सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीव नपुंसक ही होते हैं, यह कथन गलत सिद्ध होता है।

पहले प्रश्न का उत्तर सरल है। जैसा कि हम वनस्पतियों के बारे में बता आये हैं कि वनस्पतियों की उत्पत्ति में उनके ही किसी अंग का प्रयोग हो जाता है, चाहे वह गन्ने का पर्व हो या आलू की आँख या फिर अन्य कुछ। जैनदर्शन में उसे सम्मूर्च्छन जन्म माना जाता है। इसी प्रकार बाह्य-निषेचन में नर तथा मादा के उदर से निकले पदार्थ (रसायन) के सम्मिश्रण से मादा के उदर के बाहर यदि प्रजनन

होता है तो उसे भी सम्मूर्च्छन जन्म मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

दूसरे प्रश्न में जहाँ तक नर तथा मादा के भेद की बात है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उनके शरीर की बनावट इस प्रकार की ही है, वस्तुतः उन्हें प्रजनन अंग की श्रेणी में नहीं रखना चाहिये। जैनदर्शन के अनुसार नपुंसक जीवों में नर और मादा दोनों के लक्षण देखे जाते हैं। उनमें दोनों के प्रति कामसेवन (मैथुन) की इच्छा भी देखी जाती है परन्तु वे प्रजनन में सक्षम नहीं होते। प्रजनन अंगों की सार्थकता उससे बच्चे अथवा निषेचित अण्डे पैदा होने में ही है। जबकि बाह्य-निषेचन में अण्डों का निषेचन मादा के उदर में न होकर उदर के बाहर होता है।

5. विज्ञान के अनुसार कीट-पतंगों में नर तथा मादा मेटिंग के दौरान सम्पर्क में आते हैं, लेकिन मादा नर के शुक्राणुओं के द्वारा निषेचन के बिना भी अण्डे देती है। बिना निषेचित अण्डों से भी कीट उत्पन्न होते हैं। जैसा कि चींटी के बारे में हमने देखा कि इनके बिना निषेचित अण्डों से नर तथा श्रमिक पैदा होते हैं जबकि निषेचित अण्डों से मादा। सबसे अधिक संख्या श्रमिक चींटियों की ही होती है। बिना निषेचित अण्डे एक प्रकार से रासायनिक पदार्थ ही हैं। इन अण्डों में जीव मादा के उदर में से उनके बाहर आने के बाद ही आता है। इसलिए चींटी का जन्म स्थान या योनि स्थान मादा का उदर न होकर वे अण्डे रूपी रसायन हैं जिन्हें चींटी छोड़ती है। अतः इस प्रकार के जन्म को भी सम्मूर्च्छन जन्म ही मानना चाहिए।

इसी प्रकार यदि किसी जीव के द्वारा क्षेपित मल या रसायन में जीव उत्पन्न हो तो उसे भी सम्मूर्च्छन मानना चाहिए।

6. चींटीं के उन अण्डों के बारे में विचार करें कि जो अण्डे मादा के उदर में संग्रहीत नर के वीर्य द्वारा निषेचित किये जाते हैं। यहाँ एक बात यह ध्यान देने की है कि जब मादा अण्डे देती है तभी उनमें से कुछ अण्डों के ऊपर नर के वीर्य (शुक्राणुओं) को भी छोड़ती है। अब प्रश्न यह है कि निषेचन की क्रिया कहाँ होती है तथा उन अण्डों में जीवन कब आता है? नर के वीर्य तथा मादा के अण्डाणु रूपी रसायन का मिश्रण भले ही अण्डों के मादा के उदर से निकलने के दौरान हो, लेकिन इनमें जीवन उनके मादा के उदर से निकलने के बाद आये, तो योनि-स्थान मादा का उदर न रहकर, नर तथा मादा द्वारा क्षेपित रसायन (गमेट्स) का सम्मिश्रण माना जायेगा। क्योंकि इस प्रकार के सम्मिश्रण में से मादा चींटी का जन्म होता है। इस स्थिति में भी चींटियों का जन्म सम्मूर्च्छन ही माना जायेगा।

7. आन्तरिक-निषेचन में नर तथा मादा सम्पर्क में आते हैं, साथ ही नर के शुक्राणुओं द्वारा मादा के अण्डाणुओं का निषेचन मादा के उदर में ही हो जाता है

तथा जीव उदर के अन्दर ही अंडे या शिशु के रूप में बढ़ता है। फिर यह जीव पूर्ण अवस्था, वयस्क या फिर निषेचित अण्डे के रूप में बाहर आता है। इस प्रकार के प्रजनन को गर्भ जन्म की श्रेणी में रखा जाना उचित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस जीव का जन्म गर्भ से होता है तथा किसका सम्मूर्च्छन रीति से, इस बात को समझने के लिए जैनदर्शन में वर्णित जीव के जन्म-स्थान या योनि-स्थान को समझना बहुत जरूरी है। कुछ मत्स्य, मेंढक आदि में जीव-उत्पत्ति का स्थान या योनि स्थान मादा का उदर नहीं होता है। बल्कि नर तथा मादा द्वारा क्षेपित गमेट्स या वीर्य तथा अण्डाणु रूपी रसायनों का सम्मिश्रण होता है। जब इस सम्मिश्रण को उचित वातावरण मिल जाता है तो जीवोत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार के प्रजनन सम्मूर्च्छन रीति वाले हैं। इसलिए जैनदर्शन में मछली, मेढ़क आदि जीवों की उत्पत्ति गर्भ और सम्मूर्छन दोनों प्रकार से बतायी गई है।

इनके अतिरिक्त स्पोर द्वारा या द्विगुणन (Fragmentation) आदि से जो प्रजनन होता है उसमें जीव के शरीर के किसी न किसी हिस्से का सहयोग होता है, फिर भी इसे सम्मूर्च्छन जन्म वाला मानने में कोई दोष नहीं आता है, क्योंकि हम वनस्पति की उत्पत्ति में देख चुके हैं कि पर्व, आंख आदि वनस्पति के हिस्सों से ही नई वनस्पतियाँ पैदा होने पर भी जैनदर्शन में उन्हें सम्मूर्च्छन माना है।

इस प्रकार जैनदर्शन में वर्णित सम्मूर्च्छन जन्म सम्बन्धी अवधारणा सही है, लेकिन उसे समझने के लिए जीवोत्पत्ति स्थान अर्थात् योनि स्थान को समझना बहुत जरूरी है। सम्मूर्च्छन जन्म को समझने में विज्ञान से भी हमें बहुत सहायता मिलती है। इसके बावजूद भी कुछ बिन्दु स्पष्टीकरण चाहते हैं (1) मत्स्य, मेंढ़क तथा चींटी आदि में योनि स्थान (जो कि वीर्य तथा अण्डाणु रूपी रसायनों का सम्मिश्रण होता है) एक ही होने के बावजूद भी उनके शरीर की रचना में अन्तर पाया जाता है। विज्ञान इस अन्तर को नर तथा मादा के भेद रूप मानता है तथा चींटी के मामले में एक श्रमिक वर्ग भी मान लेता है, ऐसा क्यों?

जैनदर्शन के अनुसार शरीर की रचना में अन्तर तो शरीर-नामकर्म, आंगोपांग नामकर्म आदि पर आधारित है लेकिन नपुंसक वेद का उदय होने पर भी इन जीवों में नर और मादा का भेद होना विचारणीय है।

(2) कुछ कीट जैसे—कुछ किस्म के भ्रमर (भौंरे) तथा क्रॉकरोच में नर तथा मादा के सम्पर्क के बाद जो प्रजनन होता है उसे मादा कीट वयस्क बच्चे भी पैदा करते हैं। ऐसी स्थिति में इन कीटों में सम्मूर्च्छन-जन्म की अवधारणा पर पुनर्विचार करना चाहिए।

संदर्भ

1. तत्वार्थराजवार्तिक, भट्ट अकलंक, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, अध्याय-2, सूत्र 31
2. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, अध्याय-2, सूत्र-31
3. गोम्मटसार जीवकाण्ड, आचार्य नेमिचन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, गाथा सं. 10-12
4. धवला पुस्तक-1 पृ. 346
5. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका गाथा सं. 1861
6. धवला, पुस्तक-5, खण्ड-1, भाग-6, सूत्र 234
7. मूलाचार, आचार्य बट्टकेर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, गाथा सं-226
8. तिलोयपण्णत्ति अध्याय-8 गाथा 700-701

कर्म तथा उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध

प्रस्तावना

प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में न्यूनाधिक रूप से कर्म-व्यवस्था को स्वीकार किया गया है। व्यक्ति जिस प्रकार के कर्म करता है, उसी के अनुरूप वह उनका फल प्राप्त करता है; यह एक आम धारणा हैं। लेकिन जिस विशिष्टता के साथ जैन-दर्शन में कर्म सिद्धान्त की चर्चा की गई है, उतनी अन्य दर्शनों में नहीं। जैनदर्शन के अनुसार जीव मन, वचन तथा काय के द्वारा प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता है, वह सब उसकी क्रिया या कर्म हैं। कर्म के द्वारा ही जीव परतंत्र होता है और संसार में भटकता है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म ओर नो-कर्म। जीव के शुभाशुभ भावों के निमित्त से बंधने वाले सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों को द्रव्य-कर्म कहते हैं। जीव के क्रोध आदि विकारी परिणाम भाव-कर्म कहलाते हैं। कर्म के उदय से प्राप्त होने वाला औदारिक आदि शरीर जो जीव के सुख-दुख में निमित्त बनता है वह नो-कर्म कहलाता है।

यहाँ कर्मों को सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों, जिन्हें द्रव्य-कर्म भी कहते हैं; के रूप में स्वीकार किया गया है। जबकि जैनेतर दर्शनों में ऐसा नहीं माना गया है। अतः इन कर्मों के गुणों के बारे में जानना दिलचस्प है। साथ ही, एक अन्य बात यह भी है कि आत्मा पौद्गलिक पदार्थों से बिल्कुल भिन्न है; फिर ये पौद्गलिक स्कन्ध आत्मा से क्यों तथा किस प्रकार जुड़ें रहते हैं। इन्हीं सब बातों को यहाँ समझाने का प्रयत्न किया गया है। आगे जहाँ कहीं हम द्रव्य-कर्म की बात करेंगे उसके लिए हम मात्र 'कर्म' शब्द का प्रयोग करेंगे।

कर्मों के भौतिक गुण

परमाणु पुद्गल का वह सबसे छोटा रूप है जिसके और टुकड़े न करे जा सकें, जो न स्वयं किसी के द्वारा बाधित हो और जो न किसी को बाधित करे/ रोके। समान गुण वाले परमाणु पिण्ड मिलकर वर्गणा बनाते हैं। ये वर्गणायें पूरे लोक में भरी हुई हैं। इन वर्गणाओं में से ही कुछ ऐसी होती हैं जो आत्मा के कषाय आदि परिणामों के कारण आत्मा के साथ चिपक जाती हैं जिन्हें कर्म कहते हैं। अतः कर्म

वस्तुतः परमाणु पिण्डों का समूह है। इन्हें हम 'कार्मिक कण' या 'कार्माणु' कह सकते हैं।

कर्मों को सूक्ष्म-स्कन्ध की श्रेणी में रखा गया है। ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि न तो इनको आँखों द्वारा देखा जा सकता है और न ही इनकी उपस्थिति को इन्द्रियों द्वारा महसूस करा जा सकता है। इन्हें किसी भी उपकरण द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता है। ये मोटी से मोटी चट्टान को भी भेदकर पार निकल सकते हैं।

इसको एक उदाहरण द्वारा भी समझ सकते हैं। यदि किसी जीव को एक बहुत मोटी चादर की दीवार वाले कमरे में बन्द कर दिया जाय तब भी वह मृत्यु के पश्चात् कर्मों के साथ उस कमरे से बाहर निकल आता है तथा उस दूसरे स्थान पर पहुंच जाता है जहाँ उसे नया जन्म लेना है। इस प्रकार कर्म मोटी से मोटी दीवार को भेदने की शक्ति रखते हैं। हम कह सकते हैं कि कर्म बहुत अधिक ऊर्जा वाले सूक्ष्म पौद्गलिक पिण्ड होते हैं।

कार्मिक बल तथा कार्मिक बन्धन

दो स्थूल भौतिक पिण्डों के मध्य गुरुत्वाकर्षण का बल कार्य करता है। दो आवेशित कणों के मध्य विद्युत-चुम्बकीय बल कार्य करता है। जो इतना अधिक शक्तिशाली होता है कि इन कणों के बीच लगने वाला गुरुत्वाकर्षण का बल उसके सामने नगण्य ही है। परमाणु के नाभिक में प्रोटोन, न्यूट्रोन तथा अन्य सूक्ष्म नाभिकीय कण होते हैं। इन नाभिकीय कणों के मध्य लगने वाला प्रभावकारी बल नाभिकीय-बल होता है; यहाँ गुरुत्वाकर्षण एवं विद्युत-चुम्बकीय दोनों बल नगण्य हो जाते हैं। कर्म के कण नाभिकीय कणों से बहुत ही सूक्ष्म होते हैं क्योंकि नाभिकीय कणों को तो रोका जा सकता है लेकिन कार्मिक कणों को नहीं रोका जा सकता है। अतः दो कार्मिक कणों के मध्य लगने वाला बल निश्चित रूप से गुरुत्वाकर्षण, विद्युत-चुम्बकीय एवं नाभिकीय बलों से भिन्न तथा इनसे कहीं बहुत अधिक शक्तिशाली होना चाहिए। हम इस बल को कार्मिक बल का नाम दे सकते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि कार्मिक कण बहुत ही सूक्ष्म होते हैं जिन पर स्थूल जगत के नियम लागू नहीं होते हैं। एक कार्मिक कण दूसरे सूक्ष्म कणों को अपनी ओर किस प्रकार आकर्षित करता है, इसका वर्णन जैन-शास्त्रों में किया गया है।

एक बात यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्माण्ड से पृथ्वी पर आने वाले कुछ कण बहुत सूक्ष्म होते हैं जो कि कर्म-स्कन्धों के आकार के होते हैं। ब्रह्माण्ड से आने वाले ये कण किरणों के रूप में भी गमन करते हैं जिन्हें कॉस्मिक-रेज (cosmic rays) कहते हैं। चूँकि इन कणों का आकार कर्म-स्कन्धों के काफी निकट होता है, अतः इन दोनों में परस्पर में आकर्षण अवश्य रहता होगा। इन

दोनों के मध्य लगने वाला बल, कार्मिक-बल की प्रकृति का ही होगा। ज्योतिष-शास्त्र में विभिन्न ग्रहों के कारण पड़ने वाले प्रभाव को इस कार्मिक-बल के द्वारा समझा जा सकता है।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक जीव को स्वयं के बाँधे हुये कर्म तो प्रभावित करते हैं ही, साथ ही अन्य व्यक्तियों के कर्म भी उसे प्रभावित करते हैं। इसकी सामूहिक कर्म के रूप में व्याख्या की जाती है। चूँकि प्रत्येक जीव के कर्म-स्कन्धों का आकार तो न्यूनाधिक रूप से एक जैसा ही होता है, अतः इनके मध्य भी इन्टरएक्शन (interaction) होगा। इस की प्रकृति कार्मिक-बल के अनुरूप ही होगी।

इस प्रकार कार्मिक-बल भी दो प्रकार के हो गये। एक तो किसी जीव के सम्बद्ध कर्मों के मध्य आपस में लगने वाला बल तथा दूसरे उस जीव के स्वयं के कर्म-स्कन्धों तथा दूसरे जीव के कर्म-स्कन्धों और सूक्ष्म Cosmic particles के मध्य लगने वाला बल। लेकिन इतना अवश्य है कि परस्पर स्वयं अपने कर्म-स्कन्धों के मध्य लगने वाला बल स्वयं अपने कर्म-स्कन्धों तथा किसी दूसरे के कर्म-स्कन्धों के मध्य लगने वाले बल से काफी अधिक होता है।

जिस प्रकार विभिन्न रसायनों के बीच क्रियायें (reactions) होती हैं। जिन्हें रासायनिक क्रियायें (Chemical reactions) कहते हैं, या फिर परमाणु के नाभिक में स्थित कणों के मध्य क्रियायें होती हैं जिन्हें नाभिकीय क्रियायें (nuclear reaction) कहते हैं; उसी प्रकार दो कर्म-स्कन्धों के बीच भी क्रियायें होती हैं, उन्हें हम कार्मिक-क्रियायें (Karmic reaction) कह सकते हैं। अणुओं तथा यौगिकों में दो तत्त्वों के बीच जो सम्बन्ध होता है उसे 'रासायनिक-बंध' (Chemical-Bonding) कहते हैं तथा दो नाभिकीय-कणों के मध्य सम्बन्ध को 'नाभकीय-बंध' (Nuclear-Bonding) कहते हैं। इसी प्रकार दो कार्मिक-कणों (कार्माणुओं) के मध्य सम्बन्ध को हम 'कार्मिक-बंध' (Karmic-Bonding) कह सकते हैं। डॉ. के. बी. मार्डिया ने अपनी पुस्तक "The Scientific Foundation of Jainism" में (Karmic-Bonding) शब्द का प्रयोग किया है।

कर्मों का संकुचन-विस्तरण

जितने क्षेत्र में आत्म-प्रदेश फैले होते हैं उतने ही क्षेत्र में कर्म भी फैले रहते हैं। ये कर्म आत्म-प्रदेशों में समान रूप से वितरित होते हैं। जब विशालकाय कोई भी जीव (जैसे हाथी आदि) मरने के बाद एक नयी तिर्यञ्च या मनुष्य योनि में जन्म लेता है तो इस नयी योनि में उसके जीवन का प्रारम्भ एक बहुत ही सूक्ष्म कोशिका से होता है तथा इस कोशिका में स्थित जीन के निर्देश के अनुसार उसका विकास होता है। जितना हाथी का शरीर होता है उतने ही क्षेत्र में आत्म-प्रदेश भी फैले

होते हैं तथा उसी के अनुरूप कर्म भी समान रूप से फैले रहते हैं। लेकिन जब वह मरकर एक नयी योनि में जन्म ले रहा होता है तो उसके शरीर का आकार तो बिल्कुल छोटा हो जाता है, जबकि आत्म-प्रदेश उतने ही रहते हैं तथा उन पर स्थित कर्म भी न्यूनाधिक रूप में उतने ही बने रहते हैं। इस प्रकार आत्म-प्रदेश संकुचित हो जाते हैं तथा उनके साथ ही प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर स्थित कर्म-स्कन्ध भी सिकुड़ जाते हैं। अतः आत्मा के प्रदेशों में संकुचन के साथ-साथ कर्म-स्कन्धों में भी संकुचन होता है। इसके विपरीत जब जीव क्रमशः अपने शरीर की वृद्धि करता है तो आत्म-प्रदेश भी फैलने लगते हैं तथा उनके साथ ही कर्म-स्कन्ध भी फैलते हैं।

इस प्रकार कर्म-स्कन्धों में संकुचन -विस्तरण होता है या हम कह सकते हैं कि वे लचीले किस्म के पुद्गल पिण्ड होते हैं।

इसी संदर्भ में एक दिलचस्प बात यह भी है कि जैसे किसी व्यक्ति का किसी दुर्घटना में हाथ या पैर कट जाय तो जो आत्म-प्रदेश हाथ-पैर तक फैले हुये थे वे अब कुछ सिमट जाते हैं ऐसी स्थिति में कर्म-स्कन्ध भी संकुचित हो जाते हैं।

अतः कर्म, आत्मा के साथ दूध-पानी के समान एकमेक होकर रहते हैं और जैसे बर्तन बदलने से उसमें रखा दूध या पानी बर्तन के अनुरूप आकार ग्रहण करता रहता है ऐसे ही कर्म भी भिन्न आकार ग्रहण करते रहते हैं।

कार्माण शरीर

जीव के शरीर पांच प्रकार के होते हैं—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस व कार्माण। ये पांचों उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। मनुष्य व तिर्यंच का शरीर औदारिक होने के कारण स्थूल व दृष्टिगत है। देव-नारकियों का वैक्रियक शरीर होता है। तैजस व कार्माण शरीर सभी संसारी जीवों को सामान्य रूप से प्राप्त होता है। स्थूल शरीर (औदारिक) में दीप्ति विशेष का कारणभूत जो अत्यन्त सूक्ष्म शरीर प्रत्येक जीव के होता है, उसे तैजस शरीर कहते हैं। जीव के प्रदेशों के साथ बंधे अष्ट कर्मों के सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों को कार्माण शरीर कहते हैं। बाहरी स्थूल शरीर की मृत्यु हो जाने पर भी तैजस और कार्माण शरीर नष्ट नहीं होते। वे संसार दशा में सदा आत्म-प्रदेशों के साथ रहे आते हैं।

औदारिक शरीर स्थूल हैं, इससे वैक्रियक शरीर सूक्ष्म है। इससे आहारक शरीर सूक्ष्म है, इससे तैजस शरीर सूक्ष्म है और इससे कार्माण शरीर सूक्ष्म है। औदारिक से वैक्रियक शरीर असंख्यात गुने प्रदेश वाला है, और वैक्रियक से आहारक शरीर असंख्यात गुने प्रदेश वाला है, और तैजस शरीर से कार्माण शरीर के प्रदेश अनन्त गुने अधिक है। जिस प्रकार कपास के पिण्ड से लोहे के पिण्ड में प्रदेशपना अधिक होने पर भी क्षेत्र थोड़ा है; उसी प्रकार कार्माण शरीर के प्रदेशपना

अधिक है पर ये अपेक्षाकृत क्षेत्र कम रोकते हैं इससे स्पष्ट है कि कर्म-स्कन्धों का घनत्व तथा उनकी ऊर्जा अपेक्षाकृत बहुत अधिक होती है और वे बहुत सूक्ष्म होते हैं।

कर्म तथा जीन (Gene)

विज्ञान के अनुसार दृश्य जगत के प्रत्येक प्राणी का शरीर अनेक कोशिकाओं से निर्मित होता है। प्रत्येक कोशिका में गुणसूत्र होते हैं। जो कि डी. एन. ए. द्वारा निर्मित होते हैं। प्रत्येक डी. एन. ए. पर अनेकों जीन होते हैं। ये जीन ही यह तय करते हैं कि किस जीव के शरीर का विकास कब और कैसे होगा तथा वह कब तक जीवित रहेगा। यह वैज्ञानिकों के सामने एक चुनौती है कि जब जीन ही जीव के प्रत्येक कार्य पर नियन्त्रण रखता है तब जीन को कौन नियन्त्रित करता है? इसका उत्तर उनके पास नहीं है। इस समस्या का उत्तर जैनदर्शन की कर्म-व्यवस्था द्वारा दिया जा सकता है। इन जीन को कर्म नियन्त्रित करते हैं। कर्म ही समय-समय पर जीनों को निर्देश देते हैं कि उन्हें आगे क्या कार्य करना है।

वस्तुतः कर्म हमारे सूक्ष्म शरीर के अवयव हैं जबकि जीन हमारे स्थूल शरीर के अवयव हैं। ये कर्म ही जीन (gene) को संदेश देते हैं तथा फिर जीन उसी के अनुरूप कार्य करते हैं। यानि कि औदारिक शरीर के निर्माण में जीन कर्म के संवादी तत्त्व हैं।

कर्म एक निरकुंश सत्ता नहीं

वैज्ञानिकों का मानना है कि जीन जीव के विकास पर प्रभाव डालते हैं। लेकिन शत-प्रतिशत ये ही जिम्मेदार नहीं होते हैं। परिवेश, वातावरण आदि की भी भूमिका रहती है। इतना ही नहीं, जीन्स में परिवर्तन किया जा सकता है, इन्हें निष्क्रिय बनाया जा सकता है। इसी प्रकार जैनदर्शन में कर्म भी एक निरकुंश सत्ता नहीं है। कर्मों को बदला जा सकता है, इनकी शक्ति कम की जा सकती है, उन्हें टाला जा सकता है, इन्हें समय से पहले नष्ट किया जा सकता है तथा इन्हें बे-असर भी किया जा सकता है।

जैनदर्शन के अनुसार कर्मों की दस अवस्थायें होती हैं—बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उपशम, निधत्ति, निकाचना। सत्ता और उदय तो स्वाभाविक क्रियायें हैं, लेकिन बाकी की क्रियायें प्रयत्न सापेक्ष हैं। कर्मों की अवस्थाओं की संक्षिप्त व्याख्या निम्न प्रकार है—

बंध—कर्म का आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह परस्पर एकमेक हो जाना।

सत्ता—आत्मा के साथ कर्मों की विद्यमानता।

उदय—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के अनुरूप कर्मों के फल का प्राप्त होना।

उदीरणा—नियत अवधि से पूर्व कर्मों को पकाना। अर्थात् उदय में लाकर उसका अनुभव कर लेना।

उत्कर्षण—कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होना।

अपकर्षण—कर्मों की स्थिति और अनुभाग का घट जाना।

संक्रमण—जो कर्म-प्रकृति पहले जीव से बंधी थी उसका अन्य प्रकृति रूप परिणमित हो जाना अर्थात् सजातिय कर्म-प्रकृतियों का परस्पर परिवर्तन।

उपशम—आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रकट न होना।

निधत्ति—जिस कर्म का उत्कर्षण, अपकर्षण तो संभव हो पर संक्रमण होना संभव न हो।

निकाचना—जिस कर्म का उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण करना संभव न हो।

वस्तुतः उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उपशम और उदीरणा कर्म-परिवर्तन या संस्कार-विच्छेद के सिद्धान्त हैं। मात्र कुछ निकाचित् कर्म ऐसे भी होते हैं जिन्हें बदला नहीं जा सकता है।

कर्म-बंध की प्रक्रिया

कर्म पौद्गलिक-कण होते हैं। जबकि आत्मा पुद्गल से बिल्कुल भिन्न अभौतिक तत्त्व है। यह एक दिलचस्प बात है कि पुद्गल तथा आत्मा दोनों बिलकुल अलग तत्त्व होने के बावजूद भी संसारी जीवों में अनादि काल से एक साथ हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि विजातीय तत्त्व होने के बावजूद भी आत्मा के साथ कर्म-स्कन्ध क्यों तथा किस प्रकार से बंधे होते हैं। इस प्रश्न का अन्तर पाने का हम प्रयत्न करेंगे, लेकिन इससे पूर्व कर्म-बंध की प्रक्रिया को भी थोड़ा समझना होगा।

आत्मा द्वारा कर्म पुद्गलों के ग्रहण को बंध कहते हैं। बंध चार प्रकार के होता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश। प्रकृति का सम्बन्ध कर्म पुद्गलों के स्वभाव से है। अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हुए जितने काल तक कर्म आत्मा के साथ बंधे रहते हैं उसे स्थितिबंध कहते हैं। कर्म के फल देने की शक्ति को अनुभाग (या अनुभव या रस) बंध कहते हैं। कर्म प्रकृतियों के कारणभूत प्रतिसमय योग-विशेष के द्वारा सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्म-प्रदेशों में संबंध को प्राप्त होते हैं, यह प्रदेशबंध हैं। कर्म बंध का कारण कषाय तथा योग हैं। आत्मा में होने वाली क्रोधादि रूप कलुषता को कषाय कहते हैं। तथा मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं। प्रकृति और प्रदेश बंध का निर्धारण योग द्वारा

तथा स्थिति और अनुभाग बंध का निर्धारण कषाय द्वारा होता है।

जैन-दार्शनिकों ने आत्मा या जीव को एक पृथक और स्वतंत्र इकाई के रूप में मान्यता दी है और उसे स्वयं अपने कर्म का कर्ता तथा उसके फल का अनिवार्य भोक्ता बताया है। प्रत्येक आत्मा या जीव अनादिकाल से कर्म-सहित विकारी अवस्था में संसार में भ्रमण कर रहा है। जैसे दूध सदा से जल मिश्रित ही होता है उसी प्रकार जीव भी प्रारम्भ से कर्म से युक्त है। आत्मा अपने विकारी भावों के द्वारा सदा पुद्गल कर्म-स्कंधों से संबद्ध होता रहता है। पौद्गलिक कर्म-स्कंध जो अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं वे जीव के विकारी भावों से प्रेरित होकर जीव के साथ संबंध को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे घी, तेल आदि चिकने पदार्थ से युक्त दीवार पर धूल के कण आकर चिपक जाते हैं ऐसे ही कषाय या रागद्वेष की चिकनाहट पाकर पुद्गल कर्म आत्मा के साथ चिपक जाते हैं।"

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

उपरोक्त विवेचन को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। आत्मा असंख्यात प्रदेशी हैं। मन, वचन और काय के योग से आत्म-प्रदेशों में परिस्पंदन एवं कम्पन होते हैं, ये ठीक उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार तालाब में एक पत्थर डाल दिया जाय तो उससे जल में परिस्पंदन होने लगते हैं; तरंगे बनने लगती हैं। इन परिस्पंदनों से आत्म-प्रदेशों की आकृति में विकृति आ जाती है (चित्र-2)। चूँकि कर्म वर्गणायें चारों ओर स्थित होती हैं वे विकृत आत्म प्रदेशों के मध्य फँस जाती हैं, Trap हो जाती हैं, बँध जाती हैं। योग की प्रवृत्ति द्वारा उत्पन्न आत्म-प्रदेशों की विकृति तालाब में उत्पन्न जल के परिस्पन्दन जैसा होती है जो कि कुछ ही क्षणों में शांत हो जाती है। चूंकि आत्मा में कलुषता, कषाय या राग-द्वेष का निरन्तर सद्भाव बना रहता है अतः आत्म-प्रदेशों की विकृति स्थायित्व प्राप्त कर लेती है। एक प्रकार से कषाय आत्म-प्रदेशों पर दवाब बनाये रखने का कार्य करती हैं। जिस प्रकार स्पंज के ब्लॉक पर दबाव डालने से उस ब्लॉक के खाली स्थान विकृत हो जाते हैं, उनके आकार बदल जाते हैं, उसी प्रकार कषाय का दबाव पड़ने पर आत्म-प्रदेश भी विकृत हो जाते हैं। (चित्र 3) यदि स्पंज के ब्लॉक से दबाव हट जाय या हटा लिया जाय तो ब्लॉक अपनी मूलस्थिति में आ जाता है। इसी प्रकार जब कषाय (राग-द्वेष) पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं, तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। आत्म-प्रदेशों की विकृति का परिमाण कषाय की तीव्रता और मन्दता पर निर्भर करेगा। यदि कषाय तीव्र है तो विकृति अधिक समय तक रहेगी और यदि कषाय मंद हैं तो विकृति भी कम समय के लिए होगी। इन विकृत आत्म-प्रदेशों के मध्य फंसी कर्म-वर्गणायें भी कषाय की तीव्रता-मन्दता से प्रभावित होती है। कषाय जितनी अधिक तीव्र होगी, कर्म भी इतने ही तीव्र होंगे।

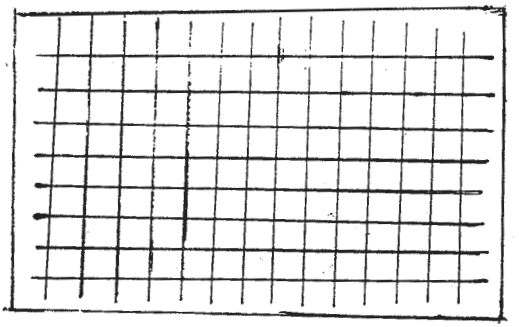

चित्र-1 : बिना विकृति के आत्म-प्रदेश

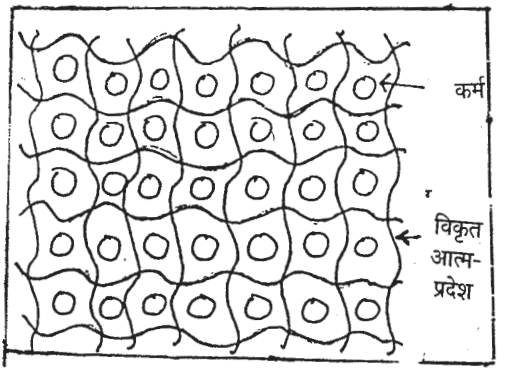

चित्र-2 : परिस्पंदन द्वारा विकृत आत्म-प्रदेश

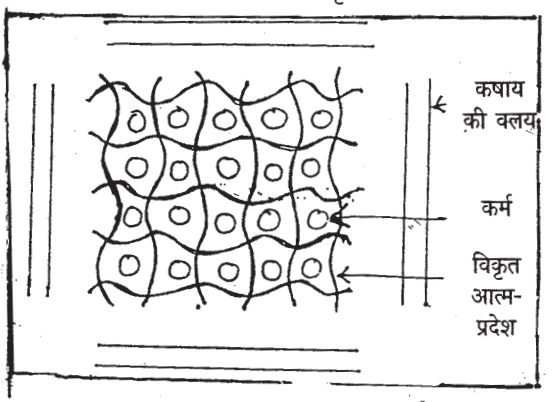

चित्र-3 : कषाय-वलय युक्त आत्म-प्रदेश

अतः कर्म पुद्गल आत्म-प्रदेशों के मध्य कितने समय तक रहेंगे तथा वे किस प्रकार असर दिखायेंगे, यह कषाय पर निर्भर करेगा। यदि कषाय (राग-द्वेष) समाप्त हो जायें तो आत्म-प्रदेशों के मध्य स्थित कर्म-पुद्गलों का असर भी बहुत कम हो जाता है तथा जैसे ही जीवात्मा में परिस्पंदन समाप्त हो जाते हैं, कर्म आत्म प्रदेशों से बद्ध नहीं रहते हैं तथा आत्मप्रदेश विकृति विहीन, बिना परिस्पंदन वाली स्थिति को प्राप्त कर लेता है। (चित्र 1) इसी का नाम मोक्ष है। एक बार जीव जब इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो बाद में आत्म-प्रदेशों में न तो परिस्पंदन होते हैं और न ही कलुषता रहती है और न ही आत्म-प्रदेशों में कर्मों के Trap होने का कोई Scope ही रहता है।

कार्माण-वर्गणायें स्पोर की तरह होती हैं। स्पोर हवा में चारों ओर फैले होते हैं। जब उन्हें उचित वातावरण, जैसे—ताप, दाब, नमी व खुराक मिल जाती हैं तो वे सजीव हो उठते हैं। उसी प्रकार कार्माण-वर्गणायें हमारे चारों ओर ठसाठस भरी हुई हैं। जब उन्हें उचित वातावरण, अर्थात् योग व कषाय की उपस्थिति में विकृत आत्म प्रदेश प्राप्त हो जाते हैं तो वे द्रव्य-कर्म का रूप ले लेती हैं। जितनी अधिक विकृति होती हैं उसी के अनुरूप यहाँ कार्माण वर्गणायें आत्मा से जुड़ जाती हैं।

जिस प्रकार तेल सोर्स-रॉक से चलकर रिजर्वोयर-रॉक (तेलाशय) में पहुँचता है तो वहां उचित वातावरण, अर्थात्—आवश्यक सरंध्र, ऊपरी अभेद्य चट्टान (शेल) प्राप्त होने के कारण तेल वहीं रुक जाता है, Trap हो जाता है। इसी प्रकार कार्माण् वर्गणायें विकृत आत्म-प्रदेशों में Trap हो जाती है।

आत्म-प्रदेशों की विकृति के कारण कर्मों का आत्मा से चिपके रहना तथा कर्मों की मौजूदगी के कारण आत्म-प्रदेशों में विकृति का बने रहना, यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। आत्म प्रदेशों की इस विकृति को तथा कर्मों को तप और ध्यान द्वारा दूर करा जा सकता है तथा विकृति रहित शुद्ध-आत्म-स्वरूप को प्राप्त करा जा सकता है।

कर्म करते क्या है?

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कर्मों की मौजूदगी शुद्ध आत्म-स्वरूप की अनुभूति नहीं होने देती है। अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख व अनन्त-वीर्य आदि आत्मा के गुण हैं। कर्मों की उपस्थिति आत्मा के इन गुणों को प्रगट नहीं होने देती है। कर्म आठ प्रकार के होते हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय। इनमें से चार (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय घातिया-कर्म कहलाते हैं; शेष चार अघातिया कर्म हैं। जो कर्म आत्मा (जीव) के गुणों का घात करें, गुणों को ढके या फिर उन्हें विकृत करें, वे घातिया-कर्म कहलाते हैं। और जो कर्म आत्मा (जीव) के गुणों का घात तो नहीं

करते, लेकिन बाह्य शरीरादि से सम्बंधित होते हैं, वे अघातिया कर्म कहलाते हैं।

जो आत्मा के ज्ञान गुण को प्रगट न होने दे, वह ज्ञानावरणीय कर्म है। जो आत्मा के दर्शन गुण को प्रगट न होने दे वह दर्शनावरणीय कर्म है। जो सुख-दुख का वेदन कराये वह वेदनीय कर्म है। जिसके उदय से जीव हित-अहित के विवेक से रहित होता है वह मोहनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य आदि भव धारण करता है उसे आयु-कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य, देव, नारकी या तिर्यञ्च कहलाता है वह नाम-कर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव उच्च और नीच कहा जाता है उसे गोत्र-कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में बाधा उत्पन्न हो उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

कुछ विशेष उल्लेखनीय बिन्दु

अब तक जो चर्चा हुई उसमें कुछ बिन्दु विशेष उल्लेखनीय हैं। वे निम्न प्रकार हैं—(1) कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिन्हें बदला जा सकता है, लेकिन कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जिन्हें बदला नहीं जा सकता है। जिन कर्मों को न बदला जा सके उन्हें 'निकाचित कर्म' कहते हैं। निकाचित-कर्म के अनेक उदाहरण मौजूद हैं। द्वीपायन मुनि द्वारा द्वारिका भस्म होगी, यह बात सब को पता थी, लेकिन अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी द्वारिका को भस्म होने से नहीं बचाया जा सका। कुछ लोग इस प्रकार के उदाहरणों द्वारा नियतवाद को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। नियत-वादियों का मानना है कि 'जो जब जहाँ जैसा होना है वह उस समय वहाँ वैसा ही होगा।' और अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए द्वीपायन-मुनि आदि के उदाहरण देते हैं। वस्तुतः उनकी यह मान्यता गलत है। सब कुछ नियत नहीं है, हाँ, निकाचित-कर्म ऐसे अवश्य हैं जिन्हें बदला न जा सके। बाकी कर्मों में तो परिवर्तन लाया जा सकता है। जैनाचार्यों का कहना है कि जिनबिंब के दर्शन से कर्मों का निकाचितपना भी नष्ट हो जाता है। (2) मन-वचन व काय में हलन-चलन होने के साथ ही आत्म-प्रदेशों में भी परिस्पंदन होते हैं तथा आत्म-प्रदेश विकृत होने लगते हैं। कषाय की मौजूदगी आत्म-प्रदेशों की इस विकृति को मजबूत कर देती है तथा वहाँ उपस्थित कर्म-वर्गणायें इन विकृत आत्म-प्रदेशों में फंस जाती हैं, Trap हो जाती हैं या चिपक जाती हैं। आत्मा में उत्पन्न कषाय-जन्य ये कर्म-वर्गणायें वस्तुतः द्रव्य-कर्म हैं। आत्म- प्रदेशों में उत्पन्न कषाय-जन्य विकृति को 'भाव-कर्म' कहते हैं। जितनी अधिक विकृति होगी, उतने सघन भाव-कर्म होंगे।

(3) जब जीव आत्मोन्मुखी होता है तब कषायें शिथिल होने लगती हैं तथा विकृत आत्म-प्रदेशों पर से इनका दबाव हटने लगता है। ऐसी स्थिति में आत्म-प्रदेशों की विकृति दूर होने लगती है तथा आत्म-प्रदेश अपनी स्वाभाविक अवस्था में आने

लगते हैं। वस्तुतः जप, तप, व्रत, ध्यान और योग ये सारी क्रियायें विकृत आत्म-प्रदेशों को स्वाभाविक अवस्था में लाने के लिए ही की जाती हैं।

(4) जिस प्रकार भोजन करने पर उस भोजन का रस शरीर में उपस्थित सभी कोशिकाओं को समान रूप से प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार कर्म-वर्गणाओं का ग्रहण होते ही वे सभी आत्म-प्रदेशों में समान रूप से स्थित हो जाती हैं।

(5) एक बार खाए गए अन्न का जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूप में अनेक प्रकार का परिणमन होता है उसी प्रकार एक आत्म-परिणाम (भाव) के द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गल ज्ञानावरणादि रूप अनेक भेदों को प्राप्त होते हैं।

(6) सामान्य अवस्था में आयु कर्म के निषेक एक सामान्य दर से खिरते हैं। असामान्य परिस्थितियों, जैसे—विष भक्षण आदि, में इनके खिरने की दर भी असामान्य हो जाती है। तथा अकाल मृत्यु के समय में आयु कर्म के सभी शेष निषेक एक साथ खिर जाते हैं।

(7) जिस प्रकार तेलाशय में जल की उपस्थिति तथा चट्टानों में तेल को चिपकाये रहने की शक्ति तेल के प्रवाह को रोकती है, उसी प्रकार आत्म-प्रदेशों में कषायों की उपस्थिति कर्मों को रोकती है। जब तेलाशय में इन दोनों को शक्ति को कम या समाप्त कर दिया जाता है तो तेल प्रवाहित होने लगता है, उसी प्रकार कषायों की शक्ति क्षीण या समाप्त हो जाने पर कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं। ❐

जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग और कर्म-सिद्धान्त

विज्ञान के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी में बहुत कार्य हुआ है। विज्ञान की नई-नई खोजों ने मनुष्य को आश्चर्य में डाल दिया है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जीव-विज्ञान के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई है। जहाँ एक ओर जीवन के रहस्यों को जानने के सार्थक प्रयास हुये हैं वहीं एक जैसी शक्ल-सूरत वाले प्राणियों को पैदा करने में सफलता हासिल कर ली है। ये भी अटकलें लगाई जा रही हैं कि कुछ वर्षों में मनुष्य के क्लोन भी तैयार करें जा सकेंगे। जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग जैसे जटिल विषय को भी बहुत आसान बनाया जा सका है। इस विधि के तहत आज हम प्राणी में मनचाहे करैक्टर विकसित कर सकते हैं और अनिच्छित करैक्टर पर रोक लगा सकते हैं। इस प्रकार हम मानव व्यक्तित्व की संरचना भी अपने अनुकूल कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जब मानव के व्यक्तित्त्व का निर्माण हम अपने मनचाहे तरीके से कर सकते हैं तो उस मानव विशेष के पूर्वोपार्जित कर्म की परिकल्पना का क्या औचित्य रह गया? लेकिन इस प्रकार का निष्कर्ष निकाल लेना उचित नहीं है। इसकी समीचीन समीक्षा के लिए हमें जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग तथा कर्म-सिद्धान्त दोनों को समझना होगा। आगे हम इस सम्बन्ध में ही चर्चा करेंगे।

जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग

जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग के बारे में जानने से पहले हमें जीव (मुख्यतः मनुष्य) के पैदा होने की प्रक्रिया के बारे में भी जानना होगा। जब नर का शुक्राणु मादा के अण्डाणु से मिलता है तो भ्रूण का निर्माण होता है। इस भ्रूण में कुछ गुणसूत्र नर के तथा शेष मादा के होते हैं। यानि कि इस भ्रूण में नर तथा मादा (माता-पिता) के वंशानुगत गुण आ जाते हैं। जब यह भ्रूण विकसित होकर बच्चा बनता है तो उसके व्यक्तित्व में माता-पिता के वंशानुगत गुण दिखने लगते हैं। बच्चे की लम्बाई, वृद्धि, उसके बालों का रंग, आँखों का रंग तथा वंश परम्परा से चले आ रहे रोग आदि लगभग सभी गुण उस बच्चे में होते हैं।

यहाँ यह जानना भी आवश्यक है कि गुणसूत्र में स्थित वे कौन से तत्त्व हैं जो इस प्रकार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में वंशानुगत गुणों का संवाहन कहते हैं? वैज्ञानिकों ने अब यह खोज कर ली है कि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक या फिर

पीढ़ी दर पीढ़ी कुछ विशिष्ट गुणों के संवाहक जीन हैं। ये जीन DNA नामक अणु पर स्थित होते हैं। मनुष्य की कोशिका में 46 क्रोमोसोम (गुणसूत्र) होते हैं जो कि DNA अणु से सम्बद्ध होते हैं। प्रत्येक DNA पर लगभग एक लाख जीन (gene) होते हैं। ये जीन भी अनेकों रासायनिक तत्त्वों से मिलकर बने होते हैं। जिन्हें न्यूक्लीयोटाइड बेस (Base) कहा जाता है।[1]

दो न्यूक्लीयोटाइड बेस मिलकर एक बेस पेयर बनाते हैं। मनुष्य के DNA में लगभग तीन बिलियन बेस-पेयर होते हैं।[2] वैज्ञानिकों ने प्रायः इन सभी बेस पेयर की जानकारी हॉसिल कर ली है। अतः अब यह जानना भी नामुमकिन नहीं रहा है कि कौन सा जीन क्या, और कैसे कोई कार्य करेगा?

नर के शुक्राणु एवं मादा के अण्डाणु (डिम्ब) के मिलकर भ्रूण बनने की प्रक्रिया एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। इसमें माता तथा पिता के जीन का मिश्रण होना तथा मात्र उन्हीं जीन का होना जो कि या तो माता में या फिर पिता में हैं स्वाभाविक है। इस प्रकार भ्रूण में जो नये गुणसूत्र विकसित होते हैं वे स्थिर एवं अपरिवर्तनीय होते हैं।

जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग[1] की प्रक्रिया में भ्रूण में जो जीन अपने माता-पिता से प्राप्त होते हैं उन्हें कृत्रिम तरीके से परिवर्तित कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया में निम्न में से कोई एक कार्य किया जाता है–

(1) या तो किसी जीन विशेष को नष्ट कर दिया जाता है अथवा निष्क्रिय कर दिया जाता है।
(2) या किसी जीन विशेष को निकाल दिया जाता है।
(3) या फिर निकाले हुये जीन के स्थान पर किसी अन्य जीव के जीन को प्रतिस्थापित कर दिया जाता है।
(4) अथवा, मौजूद जीन में ही एक और अन्य किसी प्राणी का जीन सम्मलित कर दिया जाता है।

इस प्रकार करने से दो बातें होती हैं। एक तो हमको वे करैक्टर प्राप्त नहीं होते हैं जिन्हें हम नहीं चाहते हैं। जैसे कि कोई वंशानुगत (पीढ़ी-दर-पीढ़ी) चलने वाला रोग हो, उससे हम छुटकारा चाहते हैं। चूँकि आज वैज्ञानिकों को पता है कि किस जीन से कौन-सा रोग होने वाला है, अतः वे उस जीन को या तो नष्ट कर देंगे, या उसे निष्क्रिय बना देंगे या फिर निकाल देंगे। दूसरे हम किसी प्राणी में कोई विशेषता लाना चाहते हैं तो उसमें किसी अन्य प्राणी के उस जीन को प्रतिस्थापित कर देते हैं जिसमें वह विशेषता हो। जैसे–हम किसी वनस्पति में वे जीन पैदा करना चाहते हैं जो कीटों से लड़ने की विशेष क्षमता रखते हों या फिर ऐसे जीन चाहते हैं जो उनकी वृद्धि शीघ्रता से करें। इसके लिए हम किसी अन्य वनस्पति के जीन को इस वनस्पति के जीन के साथ मिला देते हैं जो हमें यह

वांछित गुण प्रदान कर सकें। आज प्रति हेक्टेयर गेहूँ की पैदावार पहले से कहीं बहुत अधिक होती है। इसका मुख्य कारण यही जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग है। आज ऐसी वेरायटी के बीजों का निर्माण करा जा चुका है जो न सिर्फ शीघ्रता से बढ़ते हैं बल्कि कीट आदि के प्रकोप से होने वाले रोगों से बचने की क्षमता रखते हैं। आज प्रायः जो फल, सब्जियाँ तथा अन्य खाद्यान्न प्राप्त होते हैं वे जैनेटिकली इन्जीनियर्ड विकसित बीजों का ही परिणाम हैं। इन विकसित बीजों को उन्नत बीज भी कहते हैं।

जिस प्रकार कोई इच्छित करैक्टर हम वनस्पति में प्राप्त कर सकते हैं, इसी प्रकार कोई भी इच्छित/वांछित करैक्टर हम पशु-पक्षी तथा यहाँ तक कि मनुष्यों में भी प्राप्त कर सकते हैं। जब से वैज्ञानिकों ने मनुष्य के ज़ैनोम[2,3] की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर ली है तब से ऐसा कर पाना और भी अधिक सरल प्रतीत होने लगा है। यह भी अटकलें लगाई जाने लगी हैं कि अब बच्चों को न सिर्फ वंशानुगत रोगों से मुक्त करा जा सकेगा, बल्कि उन्हें बुद्धिमान भी बनाया जा सकता हैं।

जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग तथा कर्म-परिवर्तन

सबसे पहले तो यहाँ एक बात यह स्पष्ट कर दें कि जैनेटिकल इन्जीनियरिंग के अब तक जो प्रयोग हुये हैं वे प्रायः वनस्पतियों तथा सूक्ष्म जीवों (जैसे—ई. कोली बैक्टेरिया आदि) पर ही किये गये हैं; अभी ये प्रयोग अति विकसित प्राणी (जैसे—मनुष्य) पर पूर्ण नहीं हुये हैं। दूसरी बात यह है कि आनुवंशिकता (हैरिडिटी) के अध्ययन से यह तो पता चला है कि शारीरिक भिन्नता का कारण जीन हैं, पर बौद्धिक भिन्नता का सम्बन्ध जीन या आनुवंशिकी से नहीं है। बौद्धिक भिन्नता की व्याख्या परिवेश (एन्वार्नमेंट) के प्ररिप्रेक्ष्य में की जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग द्वारा बौद्धिक स्तर को विकसित नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः विज्ञान के लिए यह एक बहुत बड़ी चुनौती है। फिर भी जब हमें यह ज्ञात हैं कि कौन सा जीन क्या कार्य करता है, तथा किसी जीन विशेष के स्थान पर किसी अन्य जीन को कैसे प्रतिस्थापित किया जा सकता है, तब कुछ कर्मों पर नियन्त्रण तो हो ही सकता है।

जैनदर्शन के अनुसार जो कर्म हम जिस अवधि और जिस शक्ति का बांध लेते हैं उसमें यह नियम नहीं है कि उस कर्म को हमें उसी अवधि में या उसी अनुभाग शक्ति के रूप में भोगना ही पड़ेगा। हम अपने पुरुषार्थ के द्वारा बांधे हुए कर्म के परिणाम में, उसकी अवधि में, उसकी फल देने की शक्ति में और इतना ही नहीं उसकी जाति में ही घटाने, बढ़ाने और बदलने का उपाय कर सकते हैं। जैनदर्शन की भाषा में इसे उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण कहते हैं। (कर्म की अवस्थाओं का विवेचन 'कर्म और उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध' नामक आलेख

में देखें।)

जैनदर्शन में ऐसा भी उल्लेख आता है कि कर्म अपना फल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के अनुरूप ही देता है। द्रव्य, क्षेत्र आदि में परिवर्तन होने पर कर्म में परिवर्तन देखने में आता है। कर्मबंध का सारा रहस्य इस बात में है कि पूर्व में बांधे गए कर्म का फल भोगते समय हमारा व्यवहार कैसा है। कुछ उदाहरण देकर इसका स्पष्टीकरण करता हूँ। जैसे शरीर को पौष्टिक, अनुकूल आहार आदि मिलने पर शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ जाती है जिससे असाताकर्म के उदय में होने वाली वेदना में कमी आ जाती है। दवाओं के द्वारा शरीर में उत्पन्न श्लेष्मादि दोषों को हठात् निकाल दिया जाता है जिससे दुखनिवृत्ति के साथ-साथ अकाल-मृत्यु का निवारण भी होता है।[4] इस तरह द्रव्य-परिवर्तन से असाता वेदनीय कर्म और आयुकर्म प्रभावित होते हैं। ठंडे प्रदेश में जन्मा व्यक्ति यदि किसी गर्म प्रदेश में रहने लगे तो उसके शरीर का रंग परिवर्तित होकर सांवला हो जाता है तथा स्वच्छ, सुंदर प्राकृतिक स्थान में रहने से रोगी व्यक्ति भी अपेक्षाकृत शीघ्रता से स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर लेता है। यह स्थान या क्षेत्र परिवर्तन से होने वाले वर्ण-नामकर्म के परिवर्तन तथा असातावेदनीय के अपकर्षण या संक्रमण का सूचक है। प्रातःकाल रोगी को रोग की वेदना कम प्रभावी होती है सायंकाल या रात्रि के समय रोग की वेदना अपेक्षाकृत अधिक लगने लगती है तथा ऋतु-परिवर्तन से भी रोग में परिवर्तन देखा जाता है यह काल-परिवर्तन से होने वाले असाताकर्म के परिवर्तन का द्योतक है। एक ही कर्म का उदय मनुष्य, पशु-पक्षी, देव व नारकी भव से रहने वाले जीवों को अलग-अलग तरह से फल देता है तथा किसी मनोनुकूल कार्य में व्यस्त होने पर व्यक्ति को असाता कर्म के उदय का अनुभव, शारीरिक कष्ट, मानसिक कष्ट आदि कम मालूम पड़ने लगता है। इस तरह भव और भाव परिवर्तन से भी कर्म में परिवर्तन देखने में आता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव के व्यक्तित्व के निर्माण में आनुवांशिकता पारिस्थितिकी, भौगोलिक स्थिति आदि महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं साथ ही कर्मों के उदीरणा, उत्कर्षण अपकर्षण, संक्रमण आदि भी इसके लिए उत्तरदायी हैं। जैनेटिकल इन्जीनियरिंग द्वारा जीन में परिवर्तन करके जीवों में मनचाहा करेक्टर विकसित किया जा सकता है या जीव के व्यक्तित्व में परिवर्तन भी किया जा सकता है, लेकिन यह सब कर्मसिद्धान्त के दायरे में ही है।

जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग : कुछ और स्पष्टीकरण

अब तक यह तो सिद्ध करा जा सका है कि जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग द्वारा जीन में जो परिवर्तन कर दिये जाते हैं वे सब जैन धर्म सम्मत कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत ही हैं, उसके दायरे के बाहर की बात नहीं है। यहाँ हम कुछ और स्पष्टीकरण देना

चाहेंगे। जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग, जीन और आनुवंशिकता का सम्बन्ध जीवन से है जब कि कर्मों का सम्बन्ध जीव से है। जीवन नश्वर है, परन्तु जीव अजर-अमर है।

एक अन्य बात यह और है कि जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग जीवन की प्रारम्भिक अवस्था (जाईगोट) में ही की जाती है। जब नर के शुक्राणु तथा मादा के अण्डाणु (डिम्ब) का संयोग (फ्यूजन) होता है तो एक नयी कोशिका का निर्माण होता है जिसे जाइगोट कहते हैं। जाइगोट मात्र एक कोशिका की ही होती है। जाइगोट में अन्य कोशिकाओं की तरह गुणसूत्र तथा DNA होते हैं। इसके DNA पर जो जीन स्थित होते हैं इनमें से कुछ माता के तथा कुछ पिता के होते हैं। ये जीन ही आनुवंशिकता के संवाहक होते हैं। जाइगोट द्विगुणन द्वारा अपनी वृद्धि करता है तथा भ्रूण (एम्ब्रीओ) में विकसित हो जाता है। फिर यह क्रमशः वृद्धि करता हुआ पूर्ण प्राणी के रूप में विकसित हो जाता है।

जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग प्राणी की उस अवस्था में सम्भव है जब वह जाइगोट वाली स्थिति में होता है। इसमें एक सूक्ष्म शल्य-चिकित्सा की जाती है जिसे माइक्रो-सर्जरी कहते हैं। इस प्रक्रिया में जाइगोट में से उन जीन्स को निष्क्रिय कर दिया जाता है या निकाल दिया जाता है जिन्हें हम नहीं चाहते हैं।

माइक्रो-सर्जरी वस्तुतः पूर्ण विकसित प्राणी में की जाने वाली सर्जरी से बहुत भिन्न नहीं है। जैसे किसी व्यक्ति के दोनों गुर्दे (किडनी) खराब हों तो यह तय है कि उसके तीव्र असाता वेदनीय कर्म का उदय है और अब वह ज्यादा दिन तक जीवित नहीं रह सकेगा। अब यदि उसे कोई किडनी-डोनर (दातार) मिल जाय तथा उसकी खराब किडनी के स्थान पर दातार की अच्छी किडनी लगा दी जाय तो उस व्यक्ति की दुखनिवृत्ति हुई अर्थात् असाता-कर्म कम हुआ या टल गया, साथ ही वह अकाल मृत्यु से भी बच गया। इसी प्रकार जैसे किसी की दोनों आँखों में मोतियाबिन्दु (कैटेरेक्ट) है और उसे अब कुछ दिखाई नहीं देता है। अब यदि उसकी आँखों का ऑपरेशन कर दिया जाय तो उसे दिखने लगता है।

उसे चक्षु-दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम तो प्राप्त था पर बाह्य-उपकरण में खराबी आ जाने से वह कर्म का क्षयोपशम अपना कार्य नहीं कर पा रहा था। शल्य -चिकित्सा द्वारा उस जीव के बाह्य-उपकरण (द्रव्येन्द्रिय) की खराबी को दूर करके कर्म के क्षयोपशम का लाभ ले लिया गया, साथ ही आँख की खराबी से उसे जो दुख प्राप्त होता उस दुख की निवृत्ति भी हो गई। दुख की निवृत्ति होना असाता वेदनीय कर्म के संक्रमण का सूचक माना जा सकता है।

इसी प्रकार यदि किसी को कोई वंशानुगत रोग है तो उन्हें भी चिकित्सा द्वारा ठीक करा जा सकता है तथा कर्मों का संक्रमण किया जा सकता है।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि चिकित्सा या शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) द्वारा जिस प्रकार कर्मों में परिवर्तन करा जा सकता है, उसी प्रकार जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग

में यह कार्य प्राणी के विकसित होने से बहुत पहले जाइगोट वाली अवस्था में माइक्रो-सर्जरी द्वारा कर दिया जाता है। ऐसा मानने और समझने में कोई दिक्कत नहीं आती है। जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग को हमें इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए।

अंत में एक प्रश्न यह और रहता है कि क्या जैनेटिकल इन्जीनियरिंग द्वारा किसी नयी प्रजाति को पैदा करा जा सकता है। इसका उत्तर हाँ है और ऐसा होने पर भी जैन-सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं आता है। प्राकृतिक तरीके से घोड़े एवं गधे के बीच संकरण करवाने से खच्चर जैसा नया प्राणी बना। इसी प्रकार भेड़ और बकरी के बीच संकरण से भेकरी नामक नया प्राणी बना। जब नयी प्रजाति को संकरण द्वारा पैदा कराने से जैन-सिद्धान्तों में कोई आपत्ति नहीं आती है तो फिर जैनेटिकल-इन्जीनियरिंग द्वारा ऐसा कराने से भी कोई आपत्ति नहीं आती है।[5]

संदर्भ

1. 'World Book' Encyclopedia
2. 'Nature", Vol. 404 (23 March' 2000) & Vol. 405 (1 June '2000)
3. 'Genome Story' by samir K.Brahmachari, ``Science Reporter." August' 2000
4. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय 2, सूत्र 53
5. 'पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ और उसका क्रमिक विकास' –डॉ. अनिल कुमार जैन

क्लोनिंग तथा कर्म-सिद्धान्त

कुछ वर्षों से 'क्लोनिंग' एक बहुचर्चित विषय रहा है। खासतौर पर जब से वैज्ञानिकों ने एक भेड़ का क्लोन तैयार करने में सफलता प्राप्त कर ली है तब से नाना प्रकार की अटकलें लगाई जा रही हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने यह कहकर कि मानव का क्लोन भी दो वर्षों के अन्दर तैयार कर लिया जायेगा, इस विषय की ओर आम लोगों का ध्यान भी आकर्षित कर दिया है। कई वैज्ञानिक तथा अनेक बुद्धिजीवी इस विवाद में उलझे हुए हैं कि क्या मानव का क्लोन भी तैयार किया जा सकता है? क्या 'मानव-क्लोन' तैयार करना एक अनैतिक कृत्य नहीं होगा? आजकल इन्टरनेट पर भी इसके समर्थन और विरोध में मत जुटाये जा रहे हैं। कई विकसित देश भी इस विवाद में कूद पड़े हैं।

क्लोनिंग ने वैज्ञानिकों तथा बुद्धिजीवियों को तो प्रभावित किया ही है, साथ ही दार्शनिकों एवं धार्मिक नेताओं को भी चक्कर में डाल दिया है। जो प्रचलित धार्मिक धारणायें हैं उनके लिए भी 'क्लोनिंग' एक चुनौती भरा विषय बन गया है। इसलिए 'क्लोनिंग' को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करना अपेक्षित हो गया है। इस चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले हमें 'क्लोनिंग' तथा उसकी तकनीक के बारे में जानना होगा।

क्लोनिंग क्या है?

किसी जीव विशेष का जैनेटिकल प्रतिरूप पैदा होना 'क्लोनिंग' कहलाता है। 'क्लोन' उस जीव विशेष का मात्र नवजात शिशु ही नहीं होता, बल्कि यह उस जीव का एक प्रकार से कार्बन कॉपी होता है। जन्म की सामान्य प्रक्रिया में भ्रूण का निर्माण नर के शुक्राणु (Sperm Cell) तथा मादा के अण्डाणु (Egg Cell) के संगठन (Fussion) से होता है तथा इस भ्रूण की कोशिका (cell) के केन्द्रक (Nucleus) में गुणसूत्र (Chromosome) पाये जाते हैं। उनमें से कुछ गुणसूत्र नर के तथा कुछ गुणसूत्र मादा के होते हैं। सामान्य जन्म की यह प्रक्रिया लैंगिक (Sexual) प्रजनन कहलाती हैं। क्लोनिंग की प्रक्रिया में भ्रूण का निर्माण कुछ अलग ढंग से कराया जाता है (इसका हम आगे वर्णन करेंगे) तथा इस भ्रूण की कोशिका के केन्द्रक में सारे के सारे गुणसूत्र किसी एक (नर या मादा) के होते हैं। जिस जीव का 'क्लोन' तैयार करना हो, उसी जीव के सारे के सारे गुणसूत्र क्लोन

की कोशिका के केन्द्रक में भी होते हैं। इस प्रकार क्लोन में आनुवंशिकी के वे सारे गुण मौजूद होते हैं जो उसके डोनर पेरैन्ट (Donor Parent) नर या मादा के होते हैं। क्लोनिंग की प्रक्रिया वस्तुतः प्रजनन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें नर या मादा किसी एक की कोशिका के केन्द्रक से ही जीव पैदा होता है। इस प्रकार पैदा हुए जीव या जीवों का समूह ही 'क्लोन' कहलाता है तथा वह प्रक्रिया जिससे 'क्लोन' तैयार होते हैं, 'क्लोनिंग' कहलाती है।

पशुओं में क्लोनिंग

पशुओं में 'क्लोनिंग' वनस्पतियों (पौधों) में 'क्लोनिंग' के मुकाबले एक क्लिष्ट प्रक्रिया है क्योंकि पौधों की कोशिकाओं का ढांचा अपेक्षाकृत सरल होता है। कई नवजात पौधों की कोशिकाओं में यह गुण होता है कि वे द्विगुणन द्वारा अपनी वंशवृद्धि कर सकती हैं। इस विशेष गुण के कारण ही कई वनस्पतियों में क्लोनिंग की प्रक्रिया बहुत प्राचीन है। कलम द्वारा पौधे लगाना इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। कई एक -कोशीय सूक्ष्म जीव भी यही प्रक्रिया अपनाते हैं।

पशुओं के क्लोन तैयार करने की कोशिशें भी काफी समय से होती रही हैं। वैज्ञानिकों ने पचास के दशक में मेढ़कों के क्लोन बनाने के कई प्रयोग किये। सन् 1952 में इस क्षेत्र में आंशिक सफलता भी प्राप्त कर ली। लेकिन पूरी तरह से साठ के दशक में ही सफल हो पाये तथा मेढ़क के तीस क्लोन तैयार कर लिये।

स्तनधारी पशुओं में क्लोनिंग और अधिक कठिन प्रक्रिया है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन पशुओं के अण्डाणु (Egg Cell) बहुत छोटे तथा अधिक भंगुर होते हैं। इस प्रक्रिया में केन्द्रक के प्रत्यारोपण के लिए एक खास सूक्ष्म शल्य चिकित्सा (Micro-Surgery) करनी पड़ती है।[2] सत्तर के दशक में खरगोशों तथा चूहों के क्लोन तैयार करने के कई प्रयोग किये गये तथा अन्ततः वैज्ञानिक सफल भी रहे। नब्बे के दशक में भेड़ के क्लोन तैयार करने के प्रयोग किये गये। लेकिन सबसे अधिक तहलका तब मचा जब एडिनबर्ग (स्कॉटलेण्ड) में स्थित 'रोसलिन इन्स्टीट्यूट' में वैज्ञानिक डॉ. इआन विलमट ने फरवरी सन् 1996 में 'डॉली' के रूप में एक पूर्ण स्वस्थ 'भेड़ का क्लोन' पैदा कर दिया। इसे एक महान उपलब्धि के रूप में लिया गया क्योंकि इससे मानव क्लोन तैयार करने का रास्ता और अधिक स्पष्ट हो गया।

क्लोन बनाने की तकनीक

क्लोनिंग की चर्चा आगे बढ़ाने से पहले हमें कोशिकाओं तथा स्तनधारियों में सामान्य प्रजनन की प्रक्रिया को थोड़ा समझना होगा। प्रत्येक पशु एवं वनस्पति में अनेक कोशिकायें पायी जाती हैं। मनुष्य के शरीर में इन कोशिकाओं की कुल

संख्या सौ खरब (10^{13}) तक हो सकती है। प्रत्येक कोशिका अपने आप में एक अलग अस्तित्व वाला पूर्ण जीव होता है।[3] यह वैसे ही एक अलग जीव है जैसे कि आप और हम। कोशिका के केन्द्र में एक नाभिक होता है जिसे केन्द्रक भी कहते हैं। केन्द्रक के अन्दर उस जीव के गुणसूत्र (क्रोमोसोम्स) होते हैं। मनुष्य की कोशिका में गुणसूत्रों की संख्या 46 होती है। इन गुणसूत्रों में ही अनुवांशिकी के सभी गुण मौजूद होते हैं। क्रोमोसोम्स (गुणसूत्रों) की रचना डी. एन. ए. तथा आर. एन. ए. नामक रसायनों से निर्मित होती है। इन गुणसूत्रों पर ही जीन्स स्थित होते हैं। कोशिका के केन्द्रक के चारों ओर एक जीव-द्रव होता है जिसे प्रोटोप्लाज्म कहते हैं।

नर के शुक्राणु तथा मादा के अण्डाणु भी परिपक्व (Matured) कोशिकायें होती हैं यानी कि इनमें द्विगुणन द्वारा वृद्धि नहीं होती है। स्तनधारी पशुओं में लैंगिक प्रजनन होता है। इस प्रक्रिया में शुक्राणु, अण्डाणु को फलित या निषेचित कर देता है तथा एक नयी कोशिका का निर्माण होता है। इस नयी कोशिका में पुनः द्विगुणन करने की क्षमता होती हैं जिससे वह भ्रूण में परिवर्तित हो जाता है। इस नयी निषेचित या फलित कोशिका के केन्द्रक में गुणसूत्रों या क्रोमोसोम्स की संख्या तो 46 ही होती है, लेकिन इसमें आधे गुणसूत्र नर के तथा आधे मादा के होते हैं। इसके विपरीत क्लोनिंग द्वारा उत्पन्न नयी कोशिका में सारे के सारे गुणसूत्र किसी एक के ही होते हैं।

स्तनधारी पशुओं के क्लोन पैदा करने की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार से है। इसके लिए सर्वप्रथम मादा के एक स्वस्थ अण्डाणु को काम में लिया जाता है। इस अण्डाणु में से विशेष तकनीक द्वारा केन्द्रक को अलग कर दिया जाता है तथा इस केन्द्रक या नाभिक विहीन कोशिका को एक सुरक्षित स्थान पर रख लिया जाता है। अब हमें जिस जीव का क्लोन तैयार करना है। (जिसे डोनर पेरेन्ट कहते हैं) उसकी त्वचा (Skin) में से कोशिका अलग कर ली जाती है। फिर इस कोशिका के केन्द्रक (नाभिक) को बड़ी सावधानी पूर्वक अलग कर लिया जाता है। इस केन्द्रक को पूर्व में सुरक्षित रखी केन्द्रक विहीन कोशिका में प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। इस प्रकार एक नयी कोशिका पैदा हो जाती है जिसका केन्द्रक डोनर-पेरेन्ट की कोशिका का केन्द्रक होता है। इस प्रकार इस नयी कोशिका में गुणसूत्र वे ही होते हें जो डोनर-पेरेन्ट में होते हैं। यह नयी कोशिका द्विगुणन द्वारा भ्रूण में परिवर्तित हो जाती है। इस भ्रूण को किसी भी मादा के गर्भाशय में स्थित कर दिया जाता है जहां वह सामान्य रूप से विकसित होने लगता है। इस प्रकार जो नवजात पैदा होता है उसमें गुणसूत्र वे ही होते हैं जो डोनर-पेरेन्ट के होते हैं, अतः इसकी शक्ल सूरत-हू-ब-हू डोनर पेरेन्ट जैसी ही होती है, यानि कि वह डोनर पेरेन्ट की कॉपी होता है।

इस प्रकार हम जिसकी प्रतिलिपि कॉपी (क्लोन) तैयार करना चाहते हैं उसका केन्द्रक मादा के अण्डाणु में प्रतिस्थापित करना होगा। यदि हम नर क्लोन तैयार करना चाहते हैं तो नर की कोशिका का केन्द्रक और मादा का क्लोन चाहते हैं तो मादा की कोशिका का केन्द्रक, किसी मादा के केन्द्रक-विहीन अण्डाणु (कोशिका) में प्रतिस्थापित करना होगा।

क्लोनिंग से उठे प्रश्न

'डॉली' के रूप में 'भेड़ का क्लोन' उपरोक्त विधि (तकनीक) द्वारा ही पैदा किया गया। लेकिन इस क्लोनिंग के सफल परीक्षण से कई दार्शनिक एवं धार्मिक कठिनाइयां सामने आई हैं जिनका स्पष्टीकरण अपेक्षित है–

(1) चूँकि क्लोन में आनुवंशिकी के हू-ब-हू वे सारे गुण होते हैं जो कि डोनर-पेरेन्ट के हैं, तो क्या क्लोन डोनर का ही एक अंश है?
(2) चूँकि क्लोनिंग द्वारा जीव पैदा होने की प्रक्रिया में नर तथा मादा दोनों का होना आवश्यक नहीं रह गया है, अतः बिना नर के भी स्तनधारी पैदा किया जा सकता है। तो क्या जैनधर्म में वर्णित गर्भजन्म की अवधारणा गलत है?
(3) क्या क्लोन भेड़ (डॉली) सम्मूर्च्छन जीव है?
(4) क्या प्रयोगशाला में भी मनुष्य पैदा किया जा सकेगा?
(5) जैन-धर्मानुसार जीव के शरीर की रचना आंगोपांग नाम कर्म के उदय से होती है, लेकिन क्लोनिंग की प्रक्रिया में शरीर की रचना हम मनचाहे ढंग से बना सकते हैं। हम जिस किसी जीव की शक्ल तैयार करना चाहें, वह कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में जैनधर्म में वर्णित नामकर्म की स्थिति क्या होगी?

क्लोनिंग तथा कर्म-सिद्धान्त

उपरोक्त प्रश्नों का हल प्राप्त करने के लिए हमें विषय का और अधिक विश्लेषण करना होगा तथा कर्म-सिद्धान्त को भी समझना होगा।

सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि क्लोन किसी भी जीव का या डोनर-पेरेन्ट का अंश नहीं है। क्लोन का अलग अस्तित्व है और डोनर-पेरेन्ट का अलग। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि हमारे शरीर में स्थित प्रत्येक कोशिका भी अपने आप में एक परिपूर्ण शरीरयुक्त स्वतन्त्र जीव है तथा हमसे प्रत्येक दृष्टि में भिन्न है। उसका वैसा ही अलग अस्तित्व है जैसा कि आपका और हमारा। अतः जब प्रत्येक कोशिका का अलग अस्तित्व है तो उससे विकसित भ्रूण तथा फिर भ्रूण से विकसित क्लोन डोनर-पेरेन्ट का अंश कैसे हो सकता है? अतः क्लोन अपने आप में डोनर-पेरेन्ट से बिल्कुल अलग अस्तित्व वाला जीव है। उसका आयुष्य, उसकी भावनायें तथा उसका सुख-दुख भी अपने डोनर-पेरेन्ट से

बिल्कुल भिन्न होगा। यह बात डॉली (जो कि भेड़ का क्लोन है) के गर्भधारण करने तथा फिर उसके माता बनने से और अधिक स्पष्ट हो गई है।

अभी मनुष्य का क्लोन तैयार नहीं किया जा सका है। लेकिन यहां हम यह मानकर चलें कि मनुष्य का क्लोन भी तैयार किया जा सकता है। मानों कि मनुष्य के दो क्लोन तैयार किये गये। दोनों की शक्ल-सूरत एक जैसी ही है। यदि एक क्लोन को दूसरे की अपेक्षा ज्यादा अच्छा खाने पीने को मिले तथा अच्छा अनुकूल वातावरण मिले तो निश्चित रूप से बड़े होने पर दोनों के व्यक्तित्व में अन्तर आ जायेगा। दोनों का विकास अलग-अलग होगा ही। और यदि यह मानें कि दोनों को समान वातावरण मिले, दोनों को विकास के भी समान अवसर मिलें तो भी दोनों का व्यक्तित्व अलग-अलग ही होगा, मात्र शक्ल-सूरत ही एक जैसी होगी।

आज भी हम देखते हैं कि दो जुड़वा भाई शक्ल-सूरत में एक से होते हैं, दोनों में अन्तर कर पाना मुश्किल होता है, फिर भी उनमें से एक अधिक पढ़-लिख जाता है तथा दूसरा कम पढ़ा-लिखा रह जाता है। एक सर्विस करने लगता है तथा दूसरा निजी व्यवसाय। आगे चलकर उनकी जिम्मेदारियां भी अलग-अलग हो जाती हैं जिससे उनके व्यवहार में भी काफी अन्तर हो जाता है। इस प्रकार दो एक सी शक्ल वाले भाईयों का व्यक्तित्व भी अलग-अलग बन जाता है। इसी तरह दो एक जैसे क्लोन या क्लोन तथा डोनर-पेरेन्ट के बीच भी अन्तर रहेगा।

दूसरा प्रश्न क्लोन के जन्म के प्रकार को लेकर है। यह सही है कि बिना नर के सहयोग के भी जीव पैदा किया जा सकता है। मात्र मादा द्वारा भी जीव पैदा हो सकता है, लेकिन इस स्थिति में पैदा होने वाला क्लोन (जीव) मादा ही होगा, नर नहीं। इस प्रकार जो भी डोनर-पेरेन्ट होगा वहीं क्लोन भी होगा। यदि डोनर-पेरेन्ट नर है तो क्लोन भी नर होगा और यदि डोनर पेरेन्ट मादा है तो क्लोन भी मादा ही होगा। स्तनधारियों के क्लोन बनाने की प्रक्रिया में यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्लोन के भ्रूण को मादा के गर्भाशय में रखा जाता है। तत्पश्चात् गर्भाशय के अन्दर ही बच्चे का विकास होता है तथा गर्भकाल पूरा होने के बाद ही 'क्लोन बच्चा' पैदा होता है। यहां गर्भ की प्रक्रिया को छोड़ा नहीं गया है। अतः जैनधर्म में जन्म के आधार पर गर्भ आदि जो भेद किये गये हैं, वहां कोई विसंगति नहीं आती है।

जहां तक स्तनधारी जीवों में बिना नर के क्लोन तैयार होने का प्रश्न है, यहां एक बात यह अवश्य ध्यान रखनी चाहिए कि मादा के अण्डाणु मात्र से ही जीव-क्लोन पैदा नहीं होता है, बल्कि इस अण्डाणु के केन्द्रक को दूसरी (किसी अन्य) कोशिका के केन्द्रक द्वारा विस्थापित कराया जाता है तभी भ्रूण पैदा होता है। अतः भ्रूण बनाने के लिए दो कोशिकाओं का होना आवश्यक है जिनमें से एक मादा का अण्डाणु तथा दूसरी कोई अन्य कोशिका होनी चाहिए। इसप्रकार दो

अलग-अलग कोशिकाओं के सहयोग से ही क्लोन बनना संभव हो सका है।

अतः हमें गर्भ जन्म की प्रक्रिया की जैन मान्यता में इतना जोड़ लेना होगा कि गर्भ जन्म वाले जीव मादा के गर्भ से ही पैदा होंगे लेकिन वे बिना नर के सहयोग के भी पैदा हो सकते हैं। इस स्थिति में वे मादा ही होंगे लेकिन उनके पैदा होने में भी दो अलग-अलग कोशिकाओं –एक अण्डाणु तथा दूसरी अन्य, का होना आवश्यक है।

यहां यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भेड़ के क्लोन 'डॉली' का जन्म भी इसी प्रक्रिया से हुआ था। अतः उसका जन्म भी गर्भ -जन्म ही था। कुछ लोग डॉली को सम्मूर्च्छन जीवों की श्रेणी में रखते हैं, लेकिन वह बिल्कुल गलत है। डॉली भी अब एक मां बन चुकी है, वह भी सामान्य भेड़ों की तरह। यदि डॉली को सम्मूर्च्छन माना गया तो एक प्रश्न और पैदा हो जायेगा कि क्या सम्मूर्च्छन जीवों से भी गर्भजन्म होना संभव है?

यह मानना सही नहीं है कि मनुष्य को प्रयोगशाला में भी पैदा किया जा सकता है। अभी तक प्रयोगशाला में स्तनधारी जीव पैदा नहीं किया जा सका है। हां, टेस्ट-ट्यूब में भ्रूण तो तैयार किया जा सका है, लेकिन उसका विकास मादा के उदर (गर्भाशय) में ही संभव हो सका है, क्योंकि उसके विकास के लिए आवश्यक ताप, दाब तथा खुराक मादा द्वारा ही उपलब्ध कराई जा सकती है।

कुछ लोग यह सोचते हैं कि भेड़ के क्लोन (डॉली) को भी टेस्ट-ट्यूब बेबी जैसा ही मानना चाहिए। चूंकि क्लोन के भ्रूण को प्रयोगशाला में (टेस्ट-टयूब) में तैयार किया गया, अतः इसे टेस्ट-ट्यूब बेबी माना जा सकता है।

अब एक अन्तिम प्रश्न यह रहता है कि जैनधर्म के हिसाब से जीव के शरीर की रचना उसके नामकर्म के कारण होती है। कोई जीव कैसी शक्ल-सूरत प्राप्त करेगा, इसका निर्धारण इसी नामकर्म से होता है। लेकिन यहां तो क्लोन के शरीर की रचना अब अपने ही हाथों में आ गई है। हम जैसी शक्ल-सूरत बनाना चाहें, बना सकते हैं। ऐसी स्थिति में नामकर्म की अवधारणा तो अर्थहीन ही हो गई। लेकिन यह मान्यता उचित नहीं है। वस्तु-स्थिति क्या है, यह समझने के लिए हमें कर्म-सिद्धान्त पर थोड़ा ध्यान देना होगा।

सबसे पहले तो हमें यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि प्रत्येक घटना मात्र कर्म से ही घटित नहीं होती है।[4] कर्म ही सब कुछ नहीं होते हैं। यदि हम कर्मों के अधीन ही सब कुछ घटित होना मान लेंगे तो यह वैसी ही व्यवस्था हो जायेगी जैसी कि ईश्वरवादियों की है कि जो कुछ होता है वह ईश्वर की इच्छा से होता है या फिर उन नियतिवादियों की जैसी स्थिति हो जाएगी कि सब कुछ नियति के अधीन है, हम उसमें कुछ भी फेरफार नहीं कर सकते हैं। यदि कर्म ही सब कुछ हो जाये तो उनको नष्ट करने के लिए न तो पुरुषार्थ का ही महत्व रह जायेगा और

न ही मोक्ष सम्भव होगा क्योंकि जैसे कर्म होंगे वैसा उनका उदय होगा और उस उदय के अनुरूप ही हम कार्य करेंगे तथा नये कर्मों का बन्ध करेंगे। इससे तो पुरुषार्थ तथा मोक्ष की बात गलत सिद्ध हो जायेगी। अतः यह तय हुआ कि कर्म ही सब कुछ नहीं हैं।

कर्म एक निरंकुश सत्ता नहीं है। कर्म पर भी अंकुश है।[5] कर्मों में परिवर्तन भी किया जा सकता है। भगवान महावीर ने कहा कि किया हुआ कर्म भुगतना पड़ेगा।' यह सामान्य नियम है, लेकिन इसमें भी कुछ अपवाद हैं। कर्मों में उदीरणा उत्कर्षण, अपकर्षण तथा संक्रमण सम्भव है जिसके कारण कर्मों में परिवर्तन भी किया जा सकता है। सामान्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि पुरुषार्थ द्वारा कर्मों की निर्जरा समय से पहले भी की जा सकती है। कर्मों की काल मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाया और घटाया भी जा सकता है तथा कर्म एक भेद से सजातीय दूसरे भेद में भी बदल सकता है।[4] उदय में आ रहे कर्मों के फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबाया जा सकता है तथा काल विशेष के लिए उन्हें फल देने में अक्षम भी किया जा सकता है, इसे उपशम कहते हैं।

जैन आचार्यों के अनुसार 'संक्रमण का सिद्धान्त' जीन (Gene) को बदलने का सिद्धांत है।[5] एक विशेष बात और ध्यान देने योग्य है कि कर्मों का विपाक (फल) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के अनुसार होता है। यह विपाक निमित्त के आश्रित है तथा उसी के अनुरूप यह फल देता है। यदि दो व्यक्तियों को एक जैसा असाता वेदनीय कर्म का उदय हो और उनमें से एक धार्मिक प्रवचन या भजन सुनने में मस्त हो रहा है तथा दूसरा अकेला बिना किसी काम के एक कमरे में बैठा है तो दूसरे व्यक्ति को पहले के मुकाबले असाता वेदनीय कर्म अधिक सतायेगा।

इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्तित्व के निर्माण में कर्म ही सब कुछ नहीं होते हैं बल्कि अनुवंशिकता, परिस्थिति, वातावरण, भौगोलिकता, पर्यावरण, ये सब मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार पर असर डालते हैं। अतः शक्ल-सूरत के निर्माण में मात्र नामकर्म ही सब कुछ नहीं होते हैं। मनुष्य के रूप-रंग पर देश-काल का प्रभाव भी आसानी से देखा जा सकता है। एक ही माता से दो बच्चे जन्म लेते हैं—एक ठण्डे देश में तथा दूसरा गर्म देश में। ठण्डे देश में जन्म लेने वाला बच्चा अपेक्षाकृत गोरा हो सकता है। इतना ही नहीं, यदि कोई व्यक्ति ठण्डे देश में रहना प्रारम्भ कर दे तो उसके रंग में भी परिवर्तन आ सकता है। विज्ञान के अनुसार जीन्स (Genes) तथा रासायनिक परिवर्तन भी व्यक्तित्व के निर्माण में अपना प्रभाव डालते हैं।[5]

आयु कर्म भी एक कर्म है, लेकिन बाह्य निमित्त, जैसे—जहर आदि के सेवन से आयुष्य को कम किया जा सकता है।[6] इसी प्रकार यदि गुण-सूत्रों (क्रोमोसोम्स)

या जीन्स में परिवर्तन कर दिया जाये तो उससे शक्ल-सूरत में परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार अकेले नाम-कर्म ही यह तय नहीं करता कि किसी जीव (या मनुष्य) की शक्ल-सूरत कैसी होगी, बल्कि बाह्य परिस्थितियां भी असर डालती हैं। इसमें परिवर्तन करके यदि हम एक सी शक्ल-सूरत वाले जीव पैदा करते हैं तो इसमें कर्म सिद्धांत में कोई विसंगति नहीं आती है, क्योंकि कर्मों में संक्रमण आदि संभव है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कर्म सिद्धांत के अनुसार एक ही प्रकार की शक्ल-सूरत वाले जीव पैदा कर देना या क्लोनिंग के दौरान कोशिका के केन्द्रक (Nucleus) को परिवर्तित कर देना संभव है। अतः क्लोनिंग की प्रक्रिया कर्म-सिद्धान्त के लिए कोई चुनौती नहीं है। कर्म-सिद्धान्त को व्यवस्थित तरीके से समझ लेने पर इस प्रक्रिया की व्याख्या कर्म-सिद्धांत के आधार पर आसानी से की जा सकती है।

संदर्भ

1. 'From cell to cloning' by P.C. Joshi, Science Reporter, Feb, 1998
2. 'Cloning' by Damen R. Obrzowy, The New Book of Popular Science (Vol.-3), Grolier Inc. (1989)
3. 'The Cell' by John Pfeiffer (2nd Edition, 1998), Lifetime Books Inc., Hongkong.
4. 'जैनधर्म और दर्शन' लेखक—मुनि प्रमाण सागर
5. 'कर्मवाद', लेखक—आचार्य महाप्रज्ञ
6. 'क्या अकाल मृत्यु संभव है?', लेखक—डॉ. अनिल कुमार जैन, 'तीर्थंकर', इन्दौर, जुलाई 1994.

जैनदर्शन में प्रलय का स्वरूप

हिंदूधर्म एवं जैनदर्शन में सृष्टि की रचना के संबंध में एक मौलिक अंतर है। जहां एक ओर हिन्दूधर्म में ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता माना जाता है वहीं जैनदर्शन में सृष्टि को अनादि-अनंत माना गया है। जैनदर्शन के अनुसार इस सृष्टि की रचना किसी ने नहीं की, यह शाश्वत है। पृथ्वी पर जितने भी जीव-जंतु पाये जाते हैं, वे भी हमेशा से हैं। जैन-दर्शन डार्विन के 'जीवों के क्रमिक विकास' के सिद्धांत को भी सीधा उसी रूप में स्वीकार नहीं करता।

जैनदर्शन के अनुसार क्षुद्र जीव भी क्रमशः अपने समीचीन पुरुषार्थ के द्वारा अपनी आत्मा का विकास करके महान बन सकता है। प्रत्येक जीव की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। वानर आदि से मनुष्य का पैदा होना संभव नहीं है। एक योनि का क्रमिक विकास होकर अन्य योनि के जीव में परिवर्तित हो जाना भी असंभव है। हां, इतना अवश्य है कि एक जीव अपनी ही योनि में रहते हुए क्रमिक विकास या क्रमिक ह्रास करता है। जैसे मनुष्य योनि में ही रहते हुए मनुष्य अपना क्रमिक विकास करता है और परमात्मा बन सकता है।

काल चक्र

सृष्टि एवं जीव की उपरोक्त अवधारणा के साथ ही जैनदर्शन में काल को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—एक उत्सर्पिणी तथा दूसरी अवसर्पिणी। उत्सर्पिणी काल वह है जिसमें मनुष्य आदि जीवों की शक्ति, आयु एवं अवगाहना में क्रमशः वृद्धि होती है तथा अवसर्पिणी काल वह है जिसमें मनुष्य आदि जीवों की आयु, बल (शक्ति) तथा अवगाहना में क्रमशः कमी होती चली जाती है। उत्सर्पिणी काल के बाद अवसर्पिणी तथा पुनः उत्सर्पिणी काल आता है। यह काल-चक्र निरंतर चलता रहता है। जिस प्रकार घड़ी का पैंडुलम एक छोर से दूसरी छोर तथा फिर दूसरे छोर से पुनः पहले छोर पर आ जाता है इसी प्रकार उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल आते जाते हैं।

प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल को छह-छह भागों में बांटा गया है। अवसर्पिणी काल के छह भेद हैं—सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा तथा दुखमा-दुखमा। यह कालक्रम सुखमा-सुखमा से प्रारंभ होता है तथा दुखमा-दुखमा पर समाप्त होता है। इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के छह भेद

हैं—दुखमा-दुखमा, दुखमा, दुखमा-सुखमा, सुखमा-दुखमा, सुखमा तथा सुखमा-सुखमा।

आजकल अवसर्पिणी काल का दुखमा भाग चल रहा है। अब हम अवसर्पिणी काल के छहों भागों की क्रमशः चर्चा करेंगे।

सुखमा-सुखमा—इस काल में भूमि धूल, धूम, अग्नि और हिम से रहित तथा कंटक, अभ्रशिला (वर्फ) आदि एवं बिच्छू आदि कीड़ों के उपसर्गों से रहित होती है। इस काल में निर्मल दर्पण के सदृश और निंदित द्रव्यों से रहित दिव्य बालू तन, मन और नयनों को सुखदायक होती है। कोमल घास व फलों से लदे वृक्ष, कमलों से परिपूर्ण वाटिकाएं, सुंदर भवन, कल्पवृक्षों से परिपूर्ण पर्वत, रत्नों से भरी पृथ्वी तथा सुंदर नदियां होती हैं। युद्ध आदि का अभाव होता है। रात दिन का भेद तथा शीत एवं गरमी की वेदना का अभाव होता है। मनुष्य की आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु की पूर्ति कल्पवृक्षों से हो जाती है।

इस काल में उत्पन्न बालक-बालिका का युगल मात्र इक्कीस दिन में पूर्ण यौवन व कला से संपन्न हो जाता है। मनुष्य तीन दिन के अन्तराल से चौथे दिन बेर के बराबर अल्पाहार ग्रहण करते हैं।

सुखमा—पहला सुखमा-सुखमा काल व्यतीत हो जाने पर दूसरा सुखमा नाम का काल प्रारंभ होता है। इस काल में पृथ्वी की स्थिति पूर्ववत् रहती है। इस काल में मनुष्य दो दिन छोड़कर तीसरे दिन बहेड़ा के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। इस काल में उत्पन्न बालक बालिका का युगल पैंतीस दिन में पूर्ण यौवन और कला से सम्पन्न हो जाता है।

सुखमा-दुखमा—इस काल में भी पहले दो कालों की तरह मनुष्य की सभी आवश्यकताएं कल्पवृक्षों से पूरी होती हैं। पृथ्वी की स्थिति पूर्ववत् रहती है। इस काल में उत्पन्न बालक-बालिका का युगल उनंचास दिन में पूर्ण यौवन व कला-संपन्न हो जाता है। मनुष्य व तिर्यंचों को भूख कुछ अधिक लगने लगती है। मनुष्य एक दिन के अन्तराल से आंवले के बराबर आहार-ग्रहण करते हैं। यह काल धीरे-धीरे क्षीण होते हुए कर्मभूमि में परिवर्तित हो जाता है। कल्पवृक्षों में कमी आ जाने से सुख-सुविधाएं घटने लगती हैं। इस काल के अंत में प्राकृतिक परिवर्तन भी होने लगते है। जैसे—कल्पवृक्षों के प्रकाश में कमी आने से सूर्य व चंद्रमा का दिखाई पड़ने लगना, दिन और रात्रि का भेद दिखने लगना, सिंह, व्याघ्र आदि जीवों में क्रूरता आने लगना, सिंह आदि में मांस खाने की प्रवृत्ति जागृत हो जाना, सुख-सुविधा के साधनों की कमी और निरन्तर बढ़ते लोभ के कारण मनुष्यों में परस्पर कलह की प्रवृत्ति उत्पन्न होना, बच्चों के पालन-पोषण आदि की जिम्मेदारी आ जाना। इस सब समस्याओं के समाधान के लिए क्रमशः चौदह कुलकर इस काल के अंत में उत्पन्न होते हैं। यह भोगभूमि के समापन और कर्मभूमि के प्रारंभ का काल है।

दुखमा-सुखमा—अवसर्पिणी के इस चतुर्थ काल में मनुष्य असि, मसि, कृषि विद्या, वाणिज्य और शिल्प—इन षट्कर्मों के द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इस काल में अग्नि जलाना, भवन-निर्माण करना, मिट्टी के वर्तन बनाना आदि कार्य प्रारंभ हो जाते हैं। विवाह-विधि प्रचलित होती है।राज्य-व्यवस्था की शुरुआत होती है। इस काल में धर्म का प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकर और अन्य महापुरुष जन्म लेते हैं। भगवान ऋषभदेव जैनों के पहले तीर्थंकर थे। उन्होंने ही कर्मभूमि के प्रारंभ में मनुष्यों को कर्म व धर्म करने की शिक्षा दी। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत नाथ के समय में मर्यादा पुरुषोत्तम महापुरुष श्री रामचन्द्र हुए। नारायण श्रीकृष्ण और उनके चचेरे भाई बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ, तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं चौबीसवें व अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी आदि सभी इसी काल में उत्पन्न हुए।

दुखमा—इस पंचम काल में दुखों की बहुलता हो जाती है। मनुष्यों की आयु घटकर मात्र एक सौ बीस वर्ष रह जाती है। तीर्थंकर आदि विशिष्ट पुण्यात्माओं का जन्म नहीं होता। स्वर्ग से देवों का आगमन नहीं होता। द्वादशांग रूप जिनवाणी का ज्ञान लुप्त होने लगता है इतना अवश्य है कि इस काल के अंत तक मुनि, आर्यिका, श्रावक व श्राविकाओं का सद्भाव बना रहता है। तथा इस काल के पूरे इक्कीस हजार वर्षों में प्रत्येक एक हजार वर्ष के उपरान्त एक धर्मद्रोही राजा (कल्की) उत्पन्न होने से धर्म का ह्रास होता जाता है। इस काल में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

दुखमा-दुखमा—यह छठवां काल अत्यन्त दुख से भरा होता है। मनुष्यों का नैतिक पतन होने से वे पशुवत् आचरण करने लगते हैं। मनुष्य वस्त्रों के अभाव में जंगलों में नग्न घूमते हुए अत्यन्त दीन-हीन, दरिद्र और पीड़ित जीवन जीते हैं। इस काल में मनुष्य की अधिकतम आयु मात्र बीस वर्ष रह जाती है।

महाप्रलय का आगमन

जैनागम के अनुसार अवसर्पिणी काल में दुखमा-दुखमा काल के उनंचास दिन कम इक्कीस हजार वर्ष के बीत जाने पर मनुष्यों तथा अन्य जीव जंतुओं को भयदायक घोर प्रलय काल आता है। अभी पंचम काल के लगभग ढाई हजार वर्ष व्यतीत हुए है। अर्थात् पंचम काल के शेष साढ़े अठारह हजार वर्ष एवं छठवें काल के इक्कीस हजार वर्ष यानि अब से लगभग साढ़े उनचालीस हजार वर्ष पश्चात् महाप्रलय आएगा। इस समय पर्वत तथा शिला आदि को चूर्ण कर देने वाली संवर्तक वायु चलेगी। वृक्ष तथा पर्वतों के भंग होने से मनुष्य एवं तिर्यंच वस्त्र और स्थान की अभिलाषा करते हुए बहुत प्रकार से विलाप करेंगे। उस समय गंभीर गर्जना सहित शीतल-जल, क्षार-जल तथा विष-जल में से प्रत्येक सात-सात दिन तक बरसेंगे।

इसके अतिरिक्त धूम, धूलि, वज्र एवं जलती हुई अग्नि प्रत्येक सात-सात दिन तक बरसेंगी। यह प्रलय का क्रम उनंचास दिन तक लगातार चलेगा। इस क्रम में भरत क्षेत्र के आर्य खंड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिंगत एक योजन की भूमि जलकर नष्ट हो जाएगी। वज्र तथा महाग्नि के बल से आर्य खंड की बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्कंध स्वरूप को छोड़कर लोकांत तक पहुंच जाएगी। उस समय बहुत कम मनुष्य तथा पशु युगल शेष रह जाएंगे। मनुष्यों की ऊंचाई मात्र एक हाथ तथा आयु मात्र सोलह वर्ष रह जाएगी।

इस प्रकार सात सप्ताह अलग-अलग भीषण वर्षा के बाद पृथ्वी शांत हो जाएगी तथा अवसर्पिणी काल समाप्त हो जाएगा। तदुपरांत उत्सर्पिणी काल प्रारंभ होगा तथा दुखमा-दुखमा नामक (उत्सर्पिणी का) प्रथम काल प्रारंभ होगा। यह भी इक्कीस हजार वर्ष का होगा। इसके पश्चात क्रमशः दुखमा, दुखमा-सुखमा, सुखमा-दुखमा, सुखमा तथा सुखमा-सुखमा काल आएगा। इस प्रकार यह काल चक्र निरंतर चलता रहता है।

लगभग सभी दर्शनों में प्रलय की बात कही गयी है। जैनदर्शन में प्रलय का जो स्वरूप बताया गया है उसमें क्षार विष एवं वज्र की वर्षाओं का भी उल्लेख है। विश्वभर में औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ प्रदूषण भी बढ़ रहा है। वायु में कार्बनडाईऑक्साइड गैस की मात्रा दिन-व-दिन बढ़ रही है। यदि यह मात्रा बहुत अधिक हो जाए तो उसका आसवन होकर पृथ्वी पर वर्षा रूप में आने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है। यह वर्षा ही क्षार एवं विष की वर्षा होगी। इसी प्रकार भारत सहित अनेकों देश अंतरिक्ष में कृत्रिम उपग्रहों को भेजने में लगे हुए हैं। इससे पृथ्वी के चारों ओर अंतरिक्ष में कृत्रिम उपग्रहों का मलवा इकट्ठा हो रहा है। अंतरिक्ष क्षेत्र में दिन-प्रतिदिन प्रगति के साथ यह अंतरिक्ष मलबा भी इकट्ठा होने के कारण उसे किसी भी समय पृथ्वी पर टकराने की बात असत्य नहीं है। वज्र की वर्षा इस मलबे की ओर इशारा करती प्रतीत होती है।

जैनागम में वर्णित एक मत के अनुसार प्रलय आने में अभी साढ़े उनचालीस हजार वर्ष हैं। लेकिन अन्य एक मत के अनुसार यह काल और भी कम रह गया है। वैसे भी यदि विश्व भर के सभी देश इसी प्रकार की प्रगति में लगे रहे तो प्रलय और भी पहले आ सकती है।

❐

तीस रुपये

ISBN 81-7135-034-8

सौजन्य
मैत्री समूह